



धर्मायण

धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका

अंक : ६७

आश्विन-मार्गशीर्ष

विक्रमाब्द : २०६१

अक्तूबर-दिसम्बर, २००४ ई०

सम्पादक - मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

प्रो० काशीनाथ मिश्र

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य किशोर कुणाल

प्रधान सम्पादक

भवनाथ झा

सह - सम्पादक

मार्कण्डेय शारदेय

महावीर मन्दिर प्रकाशन

के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्वलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-800001

दूरभाष - 0612-2207725

मूल्य : दस रुपये

विषयसूची

❖ सम्पादकीय	:	२
❖ जैन धर्म के प्रवर्तक : भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव	:	डा० एस० एन० पी० सिन्हा ८
❖ मारिशस में रामायण	:	डा० श्यामसुन्दर घोष १२
❖ विजयादशमी का पावन पर्व : प्रतीकार्थ के साथ	:	प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह १८
❖ ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा का समन्वय	:	आचार्य किशोर कुणाल २७
❖ आदिकवि वाल्मीकि के इतिवृत्त में विविधता	:	साहित्यवाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव ३२
❖ श्रीनारायण स्तुति	:	अरविन्द मानव ३६
❖ कठोपनिषद् में नचिकेता के तीन वर	:	डा० रामविलास चौधरी ३६
❖ हर हर महादेव	:	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ४३
❖ दलितों के संन्यासी- स्वामी सहजानन्द सरस्वती	:	परमानन्द दोषी ४७
❖ भारतीय साहित्य में शक्ति की अभिव्यंजना	:	डा० भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता ५१
❖ ठसक छोरि रसखान	:	डी० आर० ब्रह्मचारी ५४
❖ सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं	:	डा० कामाख्या चरण मिश्र ५७
❖ मन के जीतें जीत	:	डा० भुलन सिंह ६२
❖ कबीर की रामोपासना	:	ब्रजनन्दन प्रसाद सिंह ६६
❖ प्राक्-स्वतन्त्रतायुगीन हिन्दी नाटकों की राष्ट्रीय चेतना	:	डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा ७०
❖ बौधायनकृत दुर्गार्चन-पद्धति	:	७३
❖ भक्तिहि ज्ञानहि नहीं कछु भेदा	:	गोपालजी ७६
❖ पाठकीय प्रतिक्रिया	:	७८
❖ छठ पर्व पर विशेष उपयोगी मन्त्र	:	७६
❖ व्रत-त्योहार	:	८०

पाणिपालय देवि विश्वम्

सम्पादकीय □

सर्ववेदमयी 'दुर्गा-सप्तशती' में देवी के अनेक नाम आए हैं। उन्हीं नामों से यह ज्ञात होता है कि वे ही सर्वशक्तिमती, सर्वकारिणी, सर्वरूपा, सर्वेश्वरी, परब्रह्म, परमात्मा हैं। वे ही सृष्टिकर्त्री, पालनकर्त्री तथा संहर्त्री हैं। वे ही ब्रह्मरूपा, विष्णुरूपा, शिव-स्वरूपा हैं। वे सर्वदेवमयी, सर्वप्राणिमयी, सर्वभावमयी तथा सर्वगुणमयी हैं। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और बृहत्-से-बृहत्तर वे ही हैं। वे सब कुछ हैं और उनके बिना कुछ भी नहीं है।

सप्तशती का यह कथन वैसे ही है, जैसे वैष्णव मत में विष्णु, शैव मत में शिव, सौर मत में सूर्य, गाणपत मत में गणपति तथा अन्य मतों में इष्ट का स्थान होता है। वास्तव में भेदबुद्धि के कारण ही इन मतों से उलझन होती है। भेदबुद्धि का त्याग कर दिया जाए और विवेक-बुद्धि से काम लिया जाए तो पृथक्-पृथक् आधारों में पृथग्भासित सूर्य-चन्द्र की तरह स्पष्टि प्राप्त हो जाएगी।

जैसे लोटा, थाली, तालाब, नाला, नदी, सरोवर, सागर सबमें सूर्य या चन्द्रमा का प्रतिबिम्बित होना यह नहीं स्पष्ट करता कि लोटा, थाली आदि के जल में जो सूर्य या चाँद दिखाई पड़ रहा है वही वास्तविक है, वैसे ही परब्रह्म का अनेक होना सम्भव नहीं। जैसे एक ही सूर्य या चाँद जल-दर्पण आदि के कारण अनेक मालूम पड़ता है, वैसे ही परमेश्वर भी अनेक मालूम पड़ते हैं।

ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त है। वह कीट-पतंग से लेकर देवताओं तक में विद्यमान है। वह जब तक अपनी मूलावस्था में है, तब तक नपुंसक है, विकार-रहित है, पर जब जाग्रदवस्था में आ जाता है, तब प्रकृति-पुरुषमय हो जाता है। तब वह अणोरणीयान् महतो महीयान् हो जाता है। फिर तो वही स्त्री है और वही पुरुष भी। चाहे जिस मत की बात करें, उसी की बात हो जाती है। फिर तो मताधारित देवता कृष्ण के वचन के अनुरूप ही कहेंगे—**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** (गीता : ४.११)। पुनः—**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्** (गीता : ६.२६)।

यह सच है कि कोई विष्णु को ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कहे और कोई शिव को या कोई किसी देवी-देवता को तो उलझन होगी ही, पर यह भी सच है कि ज्येष्ठ-श्रेष्ठ जिसे-जिसे कहा जा रहा हो, वह-वह एक ही हो। वास्तविकता भी यही है। सभी देवता जब परम की स्थिति में होते हैं, तब परमेश्वर हो जाते हैं और जब सिद्धिविशेष के निमित्त होते हैं, तब अंशमात्र। जब वे अंशी हों, तब तो समग्रता है और इसी समग्रता की अवस्था में वे एक हैं। जहाँ जिस देवता की समग्रता की बात है, वहाँ वे ही सब कुछ हैं, जाग्रत् या सुप्त ब्रह्म की जो-जो क्रियाएँ, प्रक्रियाएँ या प्रतिक्रियाएँ होती हैं, वे सब उन्हीं की मानी जाएँगी।

यह भी सच है कि कभी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवी की आराधना करते पाए जाते हैं तो कभी ब्रह्मा, विष्णु आदि के द्वारा शिव की, कभी शिवादि द्वारा विष्णु, सूर्य आदि की भी आराधना होती दिखाई पड़ती है; पर यह तो सिद्धि-विशेष के लिए साधन-विशेष की आराधना है। उसी साधन में उस समय समग्रता का देखना है। यह भिन्नता की बात नहीं। कभी विष्णु और शिव भिन्न नहीं, कभी देवी भिन्न नहीं, कभी सूर्य, गणपति आदि भिन्न नहीं। कपड़ा सीते समय तलवार को प्रतिष्ठा तो नहीं दी जा सकती, उस समय तो सुई ही सब कुछ रहेगी, तलवार की बात कौन करेगा? हाँ, जहाँ आततायी, दुष्ट का संहार आवश्यक है, वहाँ तलवार ही प्रतिष्ठापन्न होगी।

देवी-भागवत के सप्तम स्कन्ध की देवीगीता में देवी कहती हैं—

ईश्वरोऽहं च सूत्रात्मा विराडात्माऽहमस्मि च ।
 ब्रह्माऽहं विष्णुरुद्रौ च गौरी ब्राह्मी च वैष्णवी ॥
 सूर्योऽहं तारकाश्चाहं तारकेशस्तथाऽस्यहम् ।
 पशुपक्षिस्वरूपाऽहं चाण्डालोऽहं च तस्करः ॥
 व्याधोऽहं क्रूरकर्माऽहं सत्कर्माऽहं महाजनः ।
 स्त्रीपुंनपुंसकाकारोऽप्यहमेव न संशयः ॥
 यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
 अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याऽहं सर्वदा स्थिता ॥

(देवीगीता : २.६१-६४)

अर्थात् ईश्वर, सूक्ष्माकार, विराट्-रूपा, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, पार्वती, सरस्वती, लक्ष्मी, सूर्य, तारे, चन्द्रमा, पशु, पक्षी, चाण्डाल, तस्कर, व्याधा, निर्दयतापूर्ण कार्य करनेवाला जीव, उत्तम कार्य करनेवाला जीव, महामानव, स्त्री, पुरुष, क्लीव सब कुछ मैं ही हूँ। जो कुछ दिखाई सुनाई पड़नेवाली चीजें हैं, उन सबमें मैं ही व्याप्त हूँ।

यह देवी का कथन है। छन्दों का उलट-फेर, शब्दों का उलट-फेर, प्रसंग का उलट-फेर तथा

वक्ता का उलट-फेर हो सकता है, पर ये ही बातें सभी देवों की बातें होती हैं। वैष्णव ग्रन्थों के पन्ने पलटिए, शैव ग्रन्थों के पन्ने पलटिए या जिस मत में जाइए सर्वशक्तिमान् ईश्वर का यही गौरव दिखाई पड़ेगा।

जैसे मूर्ति रहस्य में 'सर्वरूपमयी देवी सर्व देवीमयं जगत्।' कहा गया है वैसे ही ब्रह्माण्डपुराण के विष्णुपंजर-स्तोत्र में— 'जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके। ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्व विष्णुमयं जगत् (जल में भी विष्णु हैं, स्थल में भी विष्णु हैं, पर्वतों की चोटियों पर भी विष्णु हैं, ज्वालासमूह में भी विष्णु हैं तथा यह संसार विष्णुमय है।)' कहा गया है। स्वयं 'विष्णु' शब्द ही सर्वव्यापी सत्ता का बोधक है—

यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।

तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विश्वं धातोः प्रवेशनात् ॥

अर्थात् जिन महात्मा की शक्ति से यह सम्पूर्ण विश्व है, इसलिए प्रवेशार्थक 'विश्' धातु से निष्पन्न उन देवता को विष्णु कहा जाता है।

यदि पुष्पदन्त कृत 'शिव-महिम्नस्तोत्र' को देखें तो शिव की व्यापकता के पक्ष में कहा गया है—

त्वमर्कस्त्वं सोमः त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः

त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणितात्मा त्वमिति च ।

परिच्छिन्नमेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं

न विद्मः तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥

(श्लोकसंख्या : २६)

अर्थात् हे शिव! "आप ही सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, जल, आकाश, धरती तथा आत्मा हैं।" परिपक्व बुद्धिवाले विद्वज्जन आपके बारे में ऐसी सीमित अर्थयुक्त वाणी का प्रयोग करते हैं, लेकिन हम तो यह नहीं जानते (देखते) हैं कि कुछ भी आपके अतिरिक्त है।

इसी तरह की बात सूर्य के बारे में 'वाल्मीकीय रामायण' के 'युद्धकाण्ड' से सम्बद्ध 'आदित्य-हृदय-स्तोत्र' में कही गई है—

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः ।
महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपाम्पतिः ॥
पितरो वसवः साध्या अश्विनौ मरुतो मनुः ।
वायुर्वह्निः प्रजाः प्राण ऋतुकर्ता प्रभाकरः ॥

(श्लोकसंख्या : ८-६)

इसी तरह 'गणपत्यथर्वशीर्ष' में गणेश की स्तुति करते हुए कहा गया है— त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।

यह अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का वैशिष्ट्य सर्वत्र दिखाई पड़ेगा; क्योंकि एकस्त्वं सर्वरूपभाक् अर्थात् तुम एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकाशित होनेवाले हो, यही परमात्म-तत्त्व का उद्घोष है।

संसार को बनाने बसाने के लिए एक को अनेक होना ही पड़ेगा। चाहे जिस रूप को मानें, वही अन्य रूपों में मिलेगा। कार्यानुरूप होकर वह रूप बदलेगा, एक साथ भी कई रूपों में विभक्त होकर दिखाई देगा। यही तो उसका निर्गुण से सगुण होना है और अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण करना है।

अब तो जिस घर को ईश्वर ने बनाया-सजाया है, उसके कण-कण में उसका प्रेम, उसकी आत्मा का निवास है। वह सजावट में बाधक बनी किसी चीज को दूर या समाप्त तो करेगा ही। अपने ही अंश को अनुशासित करने के लिए दण्डित तो करेगा ही। दण्ड देनेवाला वही, दण्ड भी वही और दण्डनीय भी वही; यही तो उसकी लीला है, यही तो उसका निरालापन है और हम ऐसा नहीं कर पाते, इसलिए समझ नहीं पाते हैं।

यदि परम सत्ता को दुर्गा देवी के रूप में देखें तो दुर्गा-सप्तशती में उनके अनेक नाम आए हैं। कई नाम की स्तुतिभिन्नता के साथ पुनरावृत्ति भी हुई है, पर चतुर्थ अध्याय के पंचम श्लोक में जो विश्वपालन के लिए प्रार्थना की गई है, वह विशेष ध्यातव्य है—

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजन-प्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥

अर्थात् जो देवी स्वयं पुण्यवानों के घर श्री (लक्ष्मी) के रूप में बसती हैं, जो देवी पापियों के घर अलक्ष्मी (दरिद्रता) के रूप में निवास करती हैं, जो देवी विद्वानों के हृदय में सुबुद्धि बनकर रहती हैं, जो देवी सज्जनों के पास श्रद्धा बनकर रहती हैं तथा जो देवी कुलीनों के पास शील-संकोच बनकर रहती हैं, उनके समक्ष हम (देवता) प्रणत हैं। हे देवि! आप विश्व की रक्षा करें।

विश्व देवी का ही है और रक्षा करना भी उन्हीं का कार्य है। पर यहाँ विश्वरक्षा के जो साधन बताए गए हैं, वे बड़े महत्त्व के हैं।

देवी का 'श्री' रूप ही इस विश्व के लिए महौषधि है। 'श्री' शब्द के अनेक अर्थ हैं, पर देवता रूप में लक्ष्मी और साधन रूप में धन ही मुख्यार्थ हैं। लक्ष्मी ही महिष-मर्दिनी हैं, वे ही वैष्णवी शक्ति अर्थात् विष्णु-रूपा हैं— मध्यमचरित्रस्य विष्णुर्हृषिः महालक्ष्मीर्देवता। वे ही शाकम्भरी शक्ति हैं— शाकम्भरी शक्तिः, जिस रूप में वे वैवस्वत मन्वन्तर के चालीसवें युग में शतवार्षिकी अनावृष्टि के समय अन्न-जल के अभाव से त्रस्त विश्व के रक्षार्थ साग उत्पन्न करेंगी। शाकम्भरी-अवतार की घोषणा करते हुए देवी ने कहा है—

भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि ।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ सम्भविष्याम्ययोजिजा ॥
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन् ।
कीर्तयिष्यन्ति मनुजाः शताक्षीमिति मां ततः ॥
ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः ।
भरिष्यामि सुराः शाकैः आवृष्टेः प्राणधारकैः ॥
शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ॥

(दुर्गा-सप्तशती : ११.४६-४६)

अर्थात् फिर मैं जब सौ वर्षों का भीषण अकाल पड़ेगा और नदी-नाले सभी सूख जाएँगे, तब मुनियों द्वारा स्तुति करने पर अयोनिजा होकर भी प्रादुर्भूत होऊँगी। इसके बाद मैं अपने शत नेत्रों से स्तुतिकर्ता मुनियों को देखूँगी, जिससे मनुष्य मुझे शताक्षी कहेंगे। हे देवो! इसके बाद मैं अपने शरीर से उत्पन्न प्राणरक्षक शाकों से जब तक वर्षा नहीं होगी, तब तक सबका भरण-पोषण करूँगी। मैं अपने इस कार्य से भूलोक में शाकम्भरी के नाम से विख्यात होऊँगी। इस तरह विश्वपालन 'श्री' का प्रथम कार्य है।

उधर त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के कार्य विभाग में भी विष्णु पालन-विभागाधिकारी हैं। चूँकि विष्णु और लक्ष्मी में सर्वाधिक नैकट्य है, इसलिए भी पालन लक्ष्मी-रूप में हो या विष्णु-रूप में, होना तो है ही। दोनों की अभिन्नता के पक्ष में महर्षि पराशर की पुष्टि है—

नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।

यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम।।

(विष्णुपुराण : १.८.१७)

अर्थात् हे द्विजोत्तम मैत्रेयजी! जगज्जननी लक्ष्मीजी भगवान् विष्णु का संग कभी नहीं छोड़नेवाली तथा नित्य हैं। जिस तरह विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं, उसी तरह वे भी हैं।

लक्ष्मी धन की देवी हैं, इसीलिए रुपये-पैसे, सोना-चाँदी या जेवर-जायदाद को लक्ष्मी कहा जाता है। धन होना लक्ष्मी की कृपा माना जाता है और इसके लिए उद्योग को महत्त्व दिया गया है। अधन और निर्धन लक्ष्मीकोप के शिकार माने जाते हैं।

लक्ष्मीकृपा ऐहिक और आमुष्मिक दोनों सुखों का आधार है। आमुष्मिक (पारलौकिक) सुख तो कुछ हद तक अलक्ष्मीत्व से भी सम्भव है, पर ऐहिक सुख के लिए लक्ष्मीजी की थोड़ी भी कृपा तो चाहिए ही। इसीलिए भाग्यवादी न रहकर उद्योग

करके इनकी कृपा पाने का अधिक उपदेश दिया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि **उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः** अर्थात् उद्योगी पुरुषश्रेष्ठ के पास लक्ष्मी स्वतः आती हैं।

मनु महाराज तो राजधर्म बताते हुए कहते हैं कि थका हुआ राजा भी बार-बार कार्यों का आरम्भ करे अर्थात् बार-बार के आक्रमण और बार-बार की पराजय को पराजय न मानकर बार-बार आक्रमण करे, क्योंकि कार्यारम्भ करनेवाले मनुष्य की लक्ष्मी स्वयं सेवा करती हैं अर्थात् उसे यथेच्छ सुख प्रदान करती हैं—

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।

कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते।।

(मनुस्मृति : ६.३००)

'श्री' जीवन के लिए आवश्यक है, पर अनैतिक कार्यों से या स्वार्थी रूप में नहीं। वही धन मूल्यवान् है, जो सदाचार-पूर्वक उपार्जित और सदाचार-पूर्वक रक्षित है। दुराचार से भी धन का आगम होता है, पर वैसा धन अनेक दुर्गुणों को आमन्त्रित कर चैन नहीं देता है। चैन के लिए तो सद्भन ही साधक बन सकता है।

अधन होना अच्छा है, पर निर्धन होना नहीं। अधनता धन का नहीं होना है, ऐसा व्यक्ति जैसे-तैसे जी लेता है, पर धन के निकल जाने की स्थितिवाली निर्धनता बड़ी जहरीली होती है; इसपर बिहारीलाल कहते हैं—

बद्धत-बद्धत सम्पत्ति सलिल मन सरोज बद्धि जात।

घटत-घटत फिर ना घटै बरु समूल कुम्हिलात।।

वास्तव में निर्धनता पूर्व जन्म या इस जन्म के पाप का परिणाम है— **भवनेष्वलक्ष्मीः पापात्मनाम्।** आशय यह है कि धनागम पर पापाचरण होगा, अकर्मण्यता, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार, दुष्प्रवृत्ति आएगी तो लक्ष्मी दण्डित करेगी ही। उन्होंने तो कृपा रखी थी कि सत्कर्म करो, सहयोग करो, सद्व्यापार करो

और पूँजी देनेवाले के विपरीत कार्य किया, मनमानी की; सजा तो मिलेगी ही। पूँजी-निवेश क्यों करेंगी लक्ष्मीजी, दुर्गाजी?

बुद्धिरूपलब्धिज्ञानम्, अर्थप्रकाशो बुद्धिः का यही है कि जिससे बोध हो, वही बुद्धि है। बोध तो न्यूनाधिक सबको होता है, लेकिन शास्त्रों के अनुशीलन से जो क्रियावान् हैं, उनकी बुद्धि और अन्य लोगों की बुद्धि में बहुत का अन्तर है। यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद में युधिष्ठिर ने पण्डित का लक्षण बताते हुए कहा है—

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।

सर्वे व्यसनिनो मूर्खाः यः क्रियावान् स पण्डितः । ।

अर्थात् पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले एवं अन्य जो शास्त्रों के अध्यवसायी हैं, वे सभी मूर्ख हैं। जो शास्त्र-परिष्कृत ज्ञान के अनुसार कार्य करता है, वही पण्डित है।

ऐसी ही क्रियावती बुद्धि वास्तविक अर्थप्रकाश एवं उपलब्धि-ज्ञान है। ऐसी बुद्धि, जो करणीय-अकरणीय का निर्णय करने में समर्थ है, वह अन्तःकरणरूपा शक्ति कृतधी (विद्वान् एवं कर्मण्य) पुरुषों को ही प्राप्त हो सकती है।

श्रद्धा सज्जनता का आधार है, दुर्जन में श्रद्धा का ही तो अभाव रहता है, वह किसी पर भरोसा नहीं करता, वही किसी को हृदय से नहीं चाहता, उसे सब लोग अपने-से दिखाई देते हैं। दुष्ट को किसी पर विश्वास न होने के कारण दुःख भी पाता है और चिन्ता की ज्वाला में दग्ध होता रहता है। श्रद्धा में तो यह गुण है कि मिट्टी में महादेव, गोबर में गणेश और भाव में भगवान् को खड़ा कर देती है। एक राजा ने अनजाने में चोर को ही गुरु बना लिया था, पर उस राजा ने श्रद्धा-पूर्वक बनाया था, इसलिए उस चोर के माध्यम से ही ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। शबरी के बेर और

सुदामा का तण्डुल भी इसी के रूप में निवेदित नैवेद्य थे। भक्ति के लिए श्रद्धा का जितना महत्त्व है, उतना अन्य साधनों का कहाँ है?

गलत कार्य न करना ही लज्जा है—**हीरकार्य-निवर्तनम्**। ऐसी प्रवृत्ति कुलीनता की परिणति है। कुलीनता का अर्थ यह नहीं कि किसी उच्च कुल का होना, बल्कि उच्च संस्कार का होना है। जिस घर के बच्चों को उत्तम संस्कार दिया जाता रहा हो, उन बच्चों में गलत के प्रति संकोच होगा। बड़ा होकर दुराचारी लोगों की संगति होने पर भी, वे दुराचार करने से घबराएँगे, भागेंगे। कुलीनता अर्थात् संस्कारी परिवार का होना इसलिए भी आवश्यक कि बचपन में जो छाप पड़ जाती है, वह जल्दी मिटती नहीं है और मिटती भी है तो उतना दागदार नहीं बनाती, जितना कि असंस्कारी परिवार का बालक आगे चलकर बन सकता है।

श्री, अलक्ष्मी, बुद्धि, श्रद्धा और लज्जा इन पाँचों में अलक्ष्मी दण्ड है, पर शेष किसी मनुष्य के सद्गुण हैं, किसी परिवार के सद्गुण हैं, किसी देश के सद्गुण हैं और यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्व के भी सद्गुण हैं। ये पाँचों शक्तियाँ हैं। ये जिस शासक में रहेंगी, वह राष्ट्र कभी अवनतिगामी नहीं हो सकता, वह राष्ट्र कभी दुर्दिन नहीं देख सकता।

इस मन्त्र का शासनसूत्र है— सत्कर्मपूर्वक धनार्थ उद्योग, दुराचारियों, अकर्मण्यों को सम्पत्ति-सुख से वंचित करना, कर्मण्य विद्वानों को प्रतिष्ठित करना, सज्जनता एवं श्रद्धा का वातावरण रखना तथा ऐसा संस्कार, शिक्षालय तैयार करना, जहाँ अन्तःकरण से दुष्प्रवृत्तियों के प्रति दुराव पैदा हो।

ये पाँचों बिन्दु यदि विश्व के लिए आदर्श बन जाएँगे तो अवश्य ही विश्व-कल्याण होगा। सर्वत्र वासन्तिक वातावरण रहेगा, कहीं लूट-पाट, अशिक्षा, अकर्मण्यता, आलस्य, प्रवंचना, दोषारोपण तथा शत्रुता का स्थान नहीं रहेगा।

इस मन्त्र में देवताओं ने या (देवी) सुकृतिनां भवनेषु श्रीः, (या देवी) पापात्मनां (भवनेषु) अलक्ष्मीः (या देवी) कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः (या देवी) सतां (हृदयेषु) श्रद्धा (तथा च या देवी) कुलजनप्रभवस्य लज्जा (वर्तते, एतादृशीं) तां त्वां वयं (सुरगणाः) नताःस्म। (हे) देवि! विश्वं परिपालय। यह कह कह कर इसलिए प्रार्थना की है कि विश्ववल्लभा लक्ष्मी-रूपा दुर्गा देवी में जितनी कठोरता है, उतनी कोमलता भी। शासक को जैसा होना चाहिए, वे वैसी ही हैं।

इस मन्त्र का प्रयोग विश्व-कल्याणार्थ दुर्गा-सप्तशती के समस्त मन्त्रों को सम्पुष्टिक करके किया जाता है तथा जप के रूप में भी होता है। सम्पूर्ण सात सौ मन्त्रों के सात सौ बीज मन्त्र भी हैं। इस मन्त्र का बीज है 'ॐ ऐं यां नमः।'

'या श्रीः स्वयं सुकृतिनां...' में 'श्री' को ही प्रथम क्यों रखा गया है? क्या यह छन्दोनिर्माण की सुविधा का परिणाम मात्र है? नहीं, यहाँ भी रहस्य है। वस्तुतः 'श्री' त्रिवर्ग- धर्म, अर्थ और काम का वाचक भी है और यह त्रिवर्ग दुर्गा-सप्तशती का प्रसाद भी है। दुर्गापटल में तीनों चरित्रों का परिचय इस प्रकार उद्घाटित हुआ है—

सप्तशत्याः चरित्रे तु प्रथमे पद्मभूर्मुनिः।
छन्दो गायत्रमुदितं महाकाली तु देवता।।
वाग्बीजं पावकस्तत्त्वं धर्मार्थं विनियोजनम्।
मध्यमेऽथ चरित्रे तु मुनिर्विष्णुरुदाहतः।।
उष्णिक् छन्दो महालक्ष्मीर्देवता बीजमद्रिजा।
वायुस्तत्त्वं धनप्राप्त्यै विनियोग उदाहतः।।
उत्तरस्य चरित्रस्य ऋषिः शंकर ईरितः।
त्रिष्टुप् छन्दो देवताऽस्य प्रोक्ता महासरस्वती।।
कामो बीजं रतिस्तत्त्वं कामास्त्यै विनियोजनम्।

(श्लोकसंख्या : ६१-६५)

अर्थात् सप्तशती के प्रथम चरित्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द गायत्री, महाकाली देवता, वाक् बीज, अग्नि तत्त्व तथा धर्मार्थ प्रयोग है। मध्यम चरित्र के ऋषि विष्णु, उष्णिक् छन्द, महालक्ष्मी देवता दुर्गा बीज, वायु तत्त्व एवं धनप्राप्ति के लिए प्रयोग है। उत्तर चरित्र के ऋषि शिव, त्रिष्टुप् छन्द, महासरस्वती देवता काम बीज रति तत्त्व और कामप्राप्ति के लिए प्रयोग है।

इस तरह 'श्री' त्रिवर्गबोधक होकर भी मूलार्थबोध के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभा रहा है।

सच तो यह है कि सप्तशती का एक-एक मन्त्र इतने रहस्यों से भरा पड़ा है कि हम यदि किसी एक ही में डूबे तो 'एकै साधै सब सधै' दिखाई पड़ता है। ज्यों-ज्यों चिन्तन करते जाते हैं, त्यों-त्यों बात-पर-बात निकलती जाती है—

बात बात में बात है बात बात में बात।

ज्यों केले के पात में पात पात में पात।।

यद्यपि शाक्त वाङ्मय में सप्तशती के अतिरिक्त अनेक स्तोत्रग्रन्थ हैं, तथापि इसकी महिमा सर्वोपरि है। इसमें अनेक गूढ़ रहस्य हैं, जिनके कारण इसके पाठ से लोग लाभान्वित होते आ रहे हैं। इसकी महिमा को उद्घाटित करते हुए दुर्गापटल में कहा गया है—

नेतः परतरं स्तोत्रं किञ्चिदस्ति वरानने।

भुक्ति-मुक्तिप्रदं पुण्यं पावनानां च पावनम्।।

अर्थात् हे सुमुखी पार्वती! इससे (दुर्गा-सप्तशती से) बढ़कर कोई स्तोत्र नहीं है। यह भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला, पवित्र तथा पवित्रों में भी पवित्र है।



जैन धर्म के प्रवर्तक : भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव

ॐ डा० एस० एन० पी० सिन्हा

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म को अनादि एवं प्राचीनतम धर्म माना गया है। वैदिक वाङ्मय में भगवान् ऋषभदेव को जैनधर्म के संस्थापक एवं नारायण का अवतार कहा गया है। 'भागवत-पुराण' में भगवान् ऋषभदेव को विष्णु का नवम अवतार कहा गया है—

“अपत्यतामगाद्यस्य हरिशुद्धेण कर्मणा” (५.४.६)। भागवत पुराण के पंचम स्कन्ध में भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपनी प्रजाओं को अध्यात्म योग का उपदेश देने का उल्लेख मिलता है— ... “भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः” (५ . ४ . ३) ।

... “अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सद्भ्यक्” (५.५.१२)।

भगवान् ऋषभदेव वास्तव में कौन थे— इन सभी विषयों पर 'भागवत-पुराण' में विस्तृत उल्लेख मिलता है। 'मार्कण्डेय पुराण' में भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र होने का उल्लेख है, जिनमें सबसे बड़े पुत्र भरत थे। भगवान् ने इन्हीं भरत को सुयोग्य प्रशासक समझकर हिमालय का दक्षिणावर्ती भाग प्रशासन हेतु दिया था। चक्रवर्ती भरत के नाम पर उक्त भू-भाग का नाम भारतवर्ष पड़ा—

ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः।
सोऽभिषिच्यार्थं पुत्रं महाप्रात्राज्यमास्थितः।।

हिमाह्वयं दक्षिणं वर्ष भरताय पिता ददौ।
तस्माच्च भारतवर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः।।

(३६.४१)

'गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से ध्यानयोग की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! इस योग का उपदेश सूर्य से मनु को प्राप्त हुआ था और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को समझाया था। कारण कि यह योग बहुत समय से इस लोक से नष्ट हो गया था। उक्त इक्ष्वाकु और अध्यात्म-योग के उपदेश अन्य कोई नहीं, भगवान् ऋषभदेव ही सिद्ध होते हैं, जिन्होंने स्वयं सर्वप्रथम

[अहिंसा एवं करुणा की पृष्ठभूमि पर प्रवर्तित जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव सनातन धर्म में शेषशायी भगवान् विष्णु के २४ लीलावतारों में से नवम अवतार के रूप में परिगणित हैं। श्रीमद्भागवत-पुराण में इनका विस्तृत उल्लेख उपलब्ध है। इनके द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों के साथ जैन-परम्परा पर सारगर्भित आलेख प्रस्तुत है।

—सं०]

योगमुद्रा में कैवल्य प्राप्त किया था, जिसका प्रबल प्रमाण मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से उपलब्ध मूर्तियों में मिलता है। यह 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में इसका उल्लेख है— योग मुद्रा में कैवल्य प्राप्त करने का (१४.६१)।

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में भगवान् ऋषभदेव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा— “ऋषभं मासमासानां सप्तनानां विषासहि। हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्।।” इन वर्णनों से स्पष्ट होता है कि जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का ऋग्वैदिक काल से पहले आदिपुरुष, आदिनाथ के रूप में प्रादुर्भाव हो चुका था।

विश्वविख्यात दार्शनिक चिन्तक डा० राधाकृष्णन ने अपने 'इण्डियन फिलॉसफी' नामक

ग्रन्थ में लिखा है— “यह दर्शन के लिए प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध है कि ईस्वी शताब्दी के पूर्व प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा की जाती रही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनधर्म भगवान् महावीर या पार्श्वनाथ के पूर्व अस्तित्व में था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख है।

भागवत-पुराण व्यक्त करता है कि भगवान् ऋषभदेव आदिनाथ थे और जैनधर्म के संस्थापक भी। ये धर्म और कर्म के महान् समन्वयकार थे और सभ्यता और संस्कृति के विकास के आदि महामानव और प्रणेता भी।

ध्यातव्य है कि ‘जिन’ का अर्थ होता है विजेता। ‘जिन’ वह होता है, जिसने आत्मसंयम और आत्मशुद्धि के द्वारा अपनी आत्मा और अहं को जीत लिया है। जिन भगवान् के जितने भी अनुयायी हुए, सब को जैन कहा गया। जैनधर्म की अनन्त अनादि सत्ता स्वीकार की गई है।

इस धर्म में तीर्थंकर शब्द का अपना विशेष अर्थ है। धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करनेवाले ज्ञानमना ही तीर्थंकर कहे गए (तरितं संसार-महार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थम्) ऐसे महान् पुरुष वीतराग, निरंजन, निराकार होते हैं।

जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकर हुए। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव या आदिनाथ और अन्तिम भगवान् महावीर थे। जैनधर्म में काल (कल्प) छह भागों में विभक्त है। सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल में आदि तीर्थंकर आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव कौशल देश में अवतरित हुए। वे प्रथम राजा, नीति के प्रथम प्रकाशक, प्रथम जिन, प्रथम केवाली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मवीर चक्रवर्ती कहे गए। राजसिंहासन पर बैठने के बाद उन्होंने ‘गण’ की स्थापना की। उन्होंने स्त्रियों को चौंसठ कलाओं के उपदेश दिए। अपना पुत्री ब्राह्मणी और सुन्दरी को शिक्षित किया।

अनादिकाल में भी सभ्यता के विकास में नारीशिक्षा के महत्त्व को समझा। उनके राज्य में कला का विकास चरम सीमा पर था। अग्नि जलाना सिखाया। भोजन बनाने, बर्तन तैयार करने, वस्त्र बुनने और बाल बनाने आदि की विधियाँ बताईं। इस तरह शिल्पों (कुम्भकार, चित्रकार, वस्त्रकार, कर्मकार, और कश्चप) की शिक्षा दी। उन्होंने अपने पुत्र भरत को स्थापत्य विद्या और बाहुबलि को चित्रकार्य सिखाया। नागयज्ञ तथा दण्डनीति का इसी समय प्रचार-प्रसार हुआ। विवाह-संस्था की स्थापना हुई। मृतक का दाहकर्म किया जाने लगा। स्तूपनिर्माण की परम्परा भी शुरू हुई।

पहले लोग कन्द-मूल, फलों का भक्षण करते थे, लेकिन कालान्तर में उनका पचना बन्द हो गया तो उन्होंने हाथ से मलकर छिलका उतारकर खाने का आदेश दिया। आहार के रूप में ईख प्रस्तुत किया। इस तरह समाज को विकास के मार्ग पर चलने का उन्होंने ऐतिहासिक मार्ग दिखाया।

इन्द्र ने ऋषभदेव को आहार के लिए ईख प्रस्तुत किया। ईख के नाम पर ऋषभदेव का वंश इन्द्र के कहने पर इक्ष्वाकु के नाम से जाना जाने लगा। भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष नाम पड़ा। भारतवर्ष की प्रथम राजधानी इक्ष्वाकु-भूमि अयोध्या थी, जहाँ ऋषभदेव का जन्म हुआ था।

जैन परम्परा के अनुसार कौशल जनपद की राजधानी कौशलपुरी थी, जो विश्व की प्रथम नगरी मानी गई, इसकी स्थापना का श्रेय ऋषभदेव को जाता है। उन्होंने कर्म के आधार पर समाज में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की। उनके राज्य में सभी लोग धर्म का पालन करते थे। सदाचार और आनन्दपूर्वक रहते थे। वैमनस्य और वैरभाव नहीं था। अतः दण्ड की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। अहिंसा का वातावरण पराकाष्ठा पर था।

जिस रामराज्य का उल्लेख रामायण-काल में मिलता है, उसका विराट् स्वरूप चारों ओर

व्याप्त था। यही वंश, जो बाद में सूर्यवंश कहलाया, इसी कुल में हरिश्चन्द्र और राम भी राजा हुए। परम्परा के अनुसार ऋषभदेव ने अपने पुत्रों का राज्याभिषेक श्रमण धर्म में कराया। वे एक वर्ष तक चीवरधारी रहे। तत्पश्चात् उन्होंने वस्त्र का सर्वथा त्याग किया और दिगम्बर हो गए। यह अपरिग्रह की पराकाष्ठा कहा जाएगा।

साधनोपरान्त उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, समदर्शी कहलाए। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध का प्रथम आहार खीर था, उसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने ईख के रस को ग्रहण किया था। भगवान् ऋषभदेव के अनुसार मनुष्य जन्म से नहीं कर्म और पुरुषार्थ से महान् बनता है। मनुष्य जाति सामान्यतया एक है, फिर भी चार वर्णों में विभाजित है। भगवान् ऋषभदेव ने इन वर्णों के लिए शिक्षा का वर्गीकरण किया—

१. असि – शास्त्रों का ज्ञान
२. मसि – लेखन कार्य ज्ञान-विज्ञान
३. कृषि – खेती
४. विद्या – पढ़ना, उच्चतर अध्ययन
५. वाणिज्य – व्यापार, वाणिज्य
६. शिल्प – सभी प्रकार के कलाकारी कार्य।

भगवान् ऋषभदेव ने मनुष्य की भौतिक समृद्धि के लिए असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्पविज्ञान से सम्बन्धित शिक्षा की व्यवस्था की। उन्होंने सर्वप्रथम मनुष्य जाति को मनुष्य बनाना सिखाया। भौतिक जीवन के निर्माण एवं सुरक्षा की बात सिखाई और तब उनपर शासन किया।

वे तत्त्वचिन्तक थे, इसीलिए मानव जाति की भौतिक समृद्धि के विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास का रास्ता भी दिखाया, जिसपर चलकर मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वे पहले महामानव थे, जो कर्म और धर्म के समन्वयकार आदि गुरु कहलाए।

उस ज्योतिपुरुष का मानव के लिए पहला सन्देश था— “जीवन का आदर्श केवल भोग नहीं

है।” उचित मात्रा में भोग शरीर, मन को स्वस्थ और सन्तुलित बनाए रखने के लिए आवश्यक साधन है। मानव जीवन का आदर्श है— “योग्य कर्म और योग्य भोग। प्राप्त साधनों को सब मिलकर यथा योग्य उपयोग करो।”

भगवान् ऋषभदेव ‘दिव्यज्योति महापुरुष’ थे। कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था की आधारशिला उन्होंने ही रखी थी “**कम्मुणो वैभणो होई, कम्मुणा होई खतिओ। वइसा केम्माण होई, सुदेदो हवई कम्मुणा**” अर्थात् मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होता है; जन्म से नहीं।

उन्होंने जिस चिन्तन और संस्कृति की आधारशिला रखी थी, वह इतनी सुदृढ़ और मजबूत थी कि इस सन्दर्भ में ‘इकबाल’ की पंक्ति याद हो आती है— ‘हस्ती मिटती नहीं हमारी।’

ध्यातव्य है कि जैनधर्म मूल रूप से प्रगतिशील है। धर्म के प्रयोग में विकृति आने पर जैनधर्म ने हमारी पुरानी मान्यता को स्थापित करने के लिए अहिंसा एवं समता का उपदेश दिया। लोगों को सदाचरण की ओर प्रवृत्त किया। मानव जीवन के विकास का इतिहास साक्षी है कि श्रमण संस्कृति ने मानव मात्र को परिबोध देकर मानव को मानव का जीवन प्रदान किया। मानव को पशुजीवन से ऊपर उठाकर अहिंसा, दया, प्रेम, करुणा एवं सहानुभूति के मार्ग पर लाकर मानवता का निर्मल जीवन प्रदान करने का श्रेय भगवान् ऋषभदेव को ही है।

अहिंसा भारत के अन्य धर्मों एवं संस्कृतियों में भी प्लावित है। इसकी विशाल व्याप्ति में सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आदि समस्त व्रतों का स्वतः समावेश हो जाता है। श्रमण संस्कृति का मूल स्वरूप अहिंसा है और सत्य उसका विस्तार, ब्रह्मचर्य उसकी साधना, अस्तेय-अपरिग्रह तप हैं। प्रेम, करुणा, क्षमा, सेवा, सहयोग आदि जो अत्यन्त उच्च मानवीय मूल्य हैं, वे इसी अहिंसा के सकारात्मक पक्ष हैं। हर समय के सभी महान् चिन्तकों ने अहिंसा की परिभाषा में इन सब बातों को समझाया। वैदिक

ऋषियों से लेकर भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध एवं महात्मा गांधी तक सभी ने अहिंसा की बातें बताईं।

इसी सन्दर्भ में भारत के पूर्व विद्वान् राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा के उद्गार को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा। वे जैन दर्शन से काफी प्रभावित रहे। उन्होंने कहा था— “मैंने विश्व के तथा अपने देश के करीब-करीब सभी धर्मों का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। इसकी अनेक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बातों ने मुझे प्रभावित किया है। जैनधर्म के प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव की यह प्रतिमा दिखाई दे रही है, इसमें मैं कई अर्थों में जैन सिद्धान्तों का प्रतीक मानता हूँ। इस प्रतिमा की विशालता अपने शान्त और भव्य स्वरूप में उपदेश दे रही है— हमें अपने हृदय को इतना विशाल बनाना है... संकीर्ण विचारों, स्वार्थ और लिप्सा की वृत्ति से ऊपर उठकर उदात्त बनना है।

‘श्रीमद्भागवत’ के पाँचवें स्कन्ध के अध्याय २ से ६ तक में ऋषभदेव का वर्णन मिलता है। इसमें अपने पुत्रों का दिया उनका उपदेश उल्लिखित है— “हे पुत्रो! सब स्थावर-जंगम जीव मात्र को मेरे ही समान समझकर भावना करने योग्य है।” ...यह उपदेश हृदय की विशालता का द्योतक है। ...मैं जैनधर्म के अनेकान्तवाद को भी हृदय की इसी विशालता की देन मानता हूँ, क्योंकि अनेकान्तवाद विचार-संकीर्णता और कट्टरता के स्थान पर सहिष्णुता और सद्भावना की बात कहता है। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि अपने धर्म के साथ-साथ अन्य सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव रखना है। इसी बात को मैं “सर्व धर्म समभाव” कहता हूँ।

...अभी मैंने ऋषभदेव के जिस वाक्य का उदाहरण दिया, हालाँकि यह छोटा-सा वाक्य है, पर इसकी व्याख्या में जैनधर्म का समस्त व्यावहारिक पक्ष तथा अन्य सभी धर्मों का भी सार समाहित है। क्योंकि जीव मात्र को समान दृष्टि से देखने की बात प्रेम, करुणा और अहिंसा से जुड़ी है।

...अहिंसा की इस बात की आवश्यकता को बाद के तीर्थकरों ने बड़ी प्रधानता से स्थापित किया है। ...भगवान् महावीर ने धर्म के अठारह लक्षणों में प्रथम स्थान अहिंसा को दिया। उन्होंने कहा था— “जिस प्रकार इस संसार में अणु से छोटी कोई दूसरी वस्तु नहीं है तथा आकाश से बड़ी कोई अन्य चीज नहीं है, उसी प्रकार अहिंसा व्रत से अधिक सूक्ष्म या विशाल कोई व्रत नहीं है। (सब्व भूयष्य मअस्स सम्मं भूयाई पासओ)” अर्थात् संसार भर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो। ... ‘सब्वे पाणा पिया उया, सुहसाया दुख पडिकूला।’ अर्थात् समस्त प्राणियों को जीवन प्रिय है। सुख सभी को अच्छा लगता है और दुःख सभी को बुरा।

जैनधर्म का यह उद्घोष समस्त प्राणिजगत् के प्रति समता, सौहार्द और मैत्रीपूर्ण भावना का प्रतीक है। (मिन्ती मे सब्व भूएसु)— “मेरी सभी प्राणियों से मित्रता है।” ...आदि तीर्थकर की यह प्रतिमा दिग्म्बर है— वस्त्रहीन है। यह अपरिग्रह की पराकाष्ठा है। मान-अपमान अहंकार की भावना से ऊपर उठना है।भगवान् ऋषभदेव एक ऐसे शासक थे, जिन्होंने भौतिक सुखों को त्यागने के साथ-साथ अहंकार को भी त्यागा। मेरे विचार से कोई भी महापुरुष किसी धर्म या पन्थविशेष का नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण मानवसमाज के लिए होता है, विश्वमंगल के लिए होता है।”

आज का समाज, जो हिंसात्मक वृत्ति-प्रवृत्ति के फलस्वरूप ‘विघटन-विनाश’ के कगार पर है; ‘अहिंसा परमो धर्मः’ को आत्मसात् कर ही बच सकता है। सभ्यता हिंसा में जीवित नहीं रह सकती, अपितु आध्यात्मिक मूल्यों को अपनाकर ही मानवता को विनाश से बचाया जा सकता है।

बी० ६२, पी०सी० कालोनी,
लोहियानगर, पटना-२०



मारिशस में रामायण

डा० श्यामसुन्दर घोष

‘मानस-संगम’ (श्रीप्रयाग नारायण मन्दिर शिवाला, कानपुर-१) के संयोजक मित्रवर श्री बद्रीनारायण तिवारी जब-तब अच्छी और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें मुझे भिजवाते रहते हैं। कभी-कभी ऐसी पुस्तकें वे खुद अपनी मर्जी से भेजते हैं और कभी-कभी मेरे पत्र लिखने, या फोन करने पर भिजवाने का अनुग्रह करते हैं।

इस बार उन्होंने पुस्तकों का जो पैकेट भिजवाया उसमें एक पुस्तक ‘रामायण इन पार्लियामेन्ट’ भी है, ऐसा मेरे सहयोगी-सहायक ने बताया। मैं सोचने लगा—

पार्लियामेन्ट में रामायण को लेकर ऐसी बहस कब चली कि उसको लेकर ‘रामायण इन पार्लियामेन्ट’ पुस्तक छपने की नौबत आ गई? मुझे याद नहीं आ रहा था कि रामायण को लेकर कभी इतना व्यापक विचार-विमर्श हुआ हो कि पुस्तक छपवाकर उसकी जानकारी जनता को देने की आवश्यकता अनुभव की गई।

मैंने उत्सुकतावश सबसे पहले वही पुस्तक उठाई और उलट-पुलटकर देखने पर जाना कि यह

पार्लियामेन्ट भारत की न होकर, मारिशस की है, जिसमें रामायण सेन्टर की स्थापना के उद्देश्य से ०३-०४-२००१ को श्रीरामनवमी के अवसर पर एक प्राइवेट बिल (द्वितीय वाचन) प्रस्तुत किया

गया। यह बिल एक बार पहले भी ३० जून, २००० को मारिशस की पार्लियामेन्ट में लाया गया था। आकस्मिक ढंग से पार्लियामेन्ट के भंग हो जाने से इसपर बहस न हो सकी थी और यह पास नहीं हो सका था। द्वितीय वाचन के लिए इसे प्रस्तावित करते हुए प्रस्तावक ने इसे राम के जीवन से जोड़कर देखा

[हिन्द महासागर के बीच बसे छोटे-से देश मारिशस के संसद में ‘रामायण सेंटर’ की स्थापना के उद्देश्य से २००० ई० एवं २००१ ई० में एक विधेयक लाया गया। इस विधेयक पर इतने सकारात्मक व्याख्यान संसद में दिए गए कि उनका संग्रह पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। इसी पुस्तक ‘रामायण इन पार्लियामेन्ट’ पर विमर्श के बहाने रामकथा के मूल्यों पर विचार प्रस्तुत हैं।

—सं० /

था और कहा था कि जैसे राम के राज्याभिषेक की सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं और पूरी अयोध्या उम्मीद से भरी थी कि अब समदर्शी राम उनके राजा होंगे, वैसे ही प्रथम बार ही मारिशस की पार्लियामेन्ट द्वारा ‘रामायण सेंटर’ बिल पास हो जाएगा, मारिशसवासियों को इसकी पूरी उम्मीद थी। पर जैसा कि राम के साथ हुआ, वे राजा तो नहीं ही हुए, उलटे चौदह वर्षों के लिए उन्हें वन जाना पड़ा, वैसे ही मारिशस की पार्लियामेन्ट अचानक

भंग हो जाने से मारिशसवासियों को बड़ा धक्का लगा और बिल जहाँ का तहाँ पड़ा रह गया। पर धन्य है मारिशसवासियों का राम और रामायण-प्रेम, कि नई पार्लियामेन्ट के गठन होते ही दुबारा इसे सदन में प्रस्तुत किया गया।

रामायण सेन्टर बिल लाने के पीछे ये उद्देश्य बताए गए—

(१) रामायण द्वारा प्रेरित सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को बढ़ावा देना और प्रचारित करना।

(२) रामायण के प्रचार-प्रसार के लिए तत्सम्बन्धी सामग्री का प्रचार-प्रसार और वितरण।

(३) रामायण-सम्बन्धी प्रवचन, विमर्श और व्याख्यान का आयोजन।

(४) रामायण के सन्देशों और आशयों को और विवृत करना।

(५) इस सम्बन्ध में स्कूलों, वाचनालयों और पुस्तकालयों का संचालन तथा प्रबन्धन।

मारिशस की पार्लियामेन्ट में रामायण सेन्टर बिल का लाया जाना न तो आकस्मिक था और न इसके पीछे कोई राजनीतिक दृष्टि या बाध्यता थी। यह मारिशस के बहुजातीय, बहुभाषीय और बहुधार्मिक समाज के मूल में निहित गूढ़ राष्ट्रीय भावों का प्रतिफलन ही था। मारिशस बहुलतावादी समाज और राष्ट्र होते हुए भी सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक अद्भुत समन्वय का नमूना पेश करता है।

बताया गया कि जब भारतीय मूल के लोग मजदूरों और श्रमिकों के रूप में मारिशस लाए गए, तब तो उनके पास रामायण की विभिन्न भाषाओं के प्रारूप थे। उनके पास मराठी, तमिल, तेलुगु,

गुजराती, हिन्दी सभी भाषाओं की रामायणें थीं। जब वे दिन भर के कठिन श्रम और शोषण से थक-चुर कर सन्ध्या में घर लौटते थे, तब उनकी आशा, उनका आशवासन, उनका प्रतिरोध, उनकी निष्ठा और संघर्षप्रियता को रामायण का ही सम्बल प्राप्त था। उसी के सहारे उन्होंने कठिन श्रम किया, दुर्घर्ष जीवन जिया और मारिशस की बंजर धरती को अपने खून-पसीने से सींचकर सोना उगलने के लायक बनाया।

इस प्रकार भारतवासियों ने एक नए राष्ट्र के निर्माण में अपना अद्भुत योगदान दिया। यह सब हुआ रामायण के कारण, उसकी सीख के बल पर, उसके चरित्रों से प्रेरणा लेकर। उन्होंने न केवल अपना जीवन और भविष्य सँवारा, वरन् देश को भी गढ़ा और सँवारा, उसे एक नया चेहरा दिया। तो ऐसा था रामायण का स्थान और प्रभाव।

मारिशस में रामायण का स्थान गीता, बाइबिल, कुरान, गुरुग्रन्थ साहब-जैसे पवित्र और प्रेरणाप्रद ग्रन्थों के समान है। सच तो यह है कि रामायण मारिशस का राष्ट्रीय ग्रन्थ है। मारिशसवासियों ने इसे केवल एक हिन्दू धर्मग्रन्थ या काव्य के रूप में कभी देखा ही नहीं। मारिशस की पार्लियामेन्ट में हुई बहसों के जो विवरण लिपिबद्ध हैं, वे प्रमाणित करते हैं कि यहाँ के सभी पक्षों ने— सत्तापक्ष ने भी, और विपक्ष ने भी, इसे एक स्वर से अद्भुत प्रेरणापरक ग्रन्थ माना है।

इन व्याख्यानों में रामायण का जैसा मूल्यांकन हुआ है, जैसा विशदीकरण हुआ है, वह अब तक कहीं देखने में नहीं आया है। यह कोई साहित्यिक, सांस्कृतिक, काव्य-शास्त्रीय या भक्तिभावमूलक अध्ययन नहीं है। यह आज की वैश्विक परिस्थितियों

में एक समाजशास्त्रीय और मानवीय व्यावहारिक विमर्श है।

मेरा खयाल है कि मारिशस के सांसदों ने जिस विदग्धता से, जिस विशदता से, जिस आधुनिक-सह पारम्परिक दृष्टि से राम और रामायण पर विचार किया है, वह अद्भुत है। यह आज के लिए नितान्त प्रासंगिक भी है।

रामायण कहने से हम साधारणतः गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' का ही अर्थ लेते हैं। मारिशसवासी भी मूलतः 'रामचरितमानस' के ही प्रेमी, भक्त और अनुयायी हैं। उनके पुरखे रामचरितमानस की प्रति लेकर ही मारिशस गए थे। वे उसी के दोहे, चौपाई और पद गाते थे, उसी से शक्ति और प्रेरणा पाते थे, यह पुस्तक के व्याख्यानों से पता चलता है, पर मारिशस में वाल्मीकि और कम्बन की रामायणों की भी लोगों को जानकारी है और गैरहिन्दी भाषाभाषी मूल के लोग अपनी-अपनी भाषा की रामायणों के प्रेमी और हिमायती हैं।

मारिशसवासियों के कारण रामायण को एक बृहत्तर मानवीय परिवेश मिला है। इन व्याख्यानों में कई नई जानकारियाँ, कई नई युगोचित व्याख्याएँ और मार्मिक प्रसंगों का विनियोग हुआ है। एक जगह संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार की गई है—
“*कल्चर मीन्स ओपननेस ऑफ माइण्ड, अण्डर स्टैण्डिंग ऑफ अदर्स एण्ड द ओपनिंग आउट ऑफ दि इण्डीविजुअल*” (पृ० ५६)।

इसी प्रकार धर्म और पुराणशास्त्र पर विचार करते हुए उसके तीन प्रमुख स्तम्भों का उल्लेख किया गया है— दर्शन, कर्मकाण्ड और पौराणिकी (मायथोलॉजी)। इस व्याख्यान में मायथोलॉजी के

महत्त्व पर कुछ विशेष ही जोर दिया गया है। इसे सभी धर्मों में रीढ़वत् बताया गया है (पृ० ७६)।

पुस्तक में न केवल राम के चरित्र का सटीक और युगानुकूल वर्णन और विश्लेषण है, वरन् सीता, जनक, हनुमान् आदि पर भी प्रासंगिक विचार किया गया है। राम से हम तादात्म्य अनुभव क्यों करते हैं? इसलिए कि हम जानते हैं कि राम ने बहुत सहा है, हम भी कठिन परिस्थितियों में बहुत सहते हैं। इसलिए राम हमें अपने लगते हैं।

बताया गया है कि राम के चरित्र में एक आन्तरिक सन्तुलन है। हम भी इसी सन्तुलन द्वारा आज की कठिन समस्याएँ सुलझा सकते हैं। राम के जीवन के एक बड़े मार्मिक प्रसंग का उल्लेख है, जो बंगला रामायण से उद्धृत है। जब राम के सैनिक लंका पहुँचने के लिए समुद्र पर सेतु बना रहे थे, तब राम ने देखा कि उनके नाम लिखे पत्थर पानी पर तैर रहे हैं। यह देखकर उनकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। इससे लक्ष्मण बहुत चकित और द्रवित होते हैं और राम से पूछते हैं कि क्या हुआ, जो आप इतने विचलित हैं? इसपर राम कहते हैं—जब मेरा भाग्य मेरे विरुद्ध था, तब सारे प्रयासों और सबकी इच्छाओं के बावजूद मेरे सिंहासनारूढ़ होने पर ग्रहण लग गया और मुझे जंगल जाना पड़ा और आज मेरा सौभाग्य तो देखो कि मेरे नाम पर पत्थर भी पानी पर तैर रहे हैं।

व्याख्याता बताते हैं कि हम राम के जीवन से 'जीवन जीने की कला' सीख सकते हैं।

इसी प्रकार वे सीता के बारे में कहते हैं—जब उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया; अयोध्या का सारा राज-वैभव त्याग दिया, तब उन्होंने राम को पा

लिया। लेकिन जब वही सीता स्वर्णमृग को देखकर मोहित होती हैं, तब वे राम को खो देती हैं।

राम अपने देश-दुनिया घर-बार छोड़कर वन जाने को विवश हुए। वहाँ उन्होंने कठिन परिस्थितियों में जीवन जिया और संघर्ष किया, आदिवासियों जनजातियों को प्रशिक्षित कर सेना खड़ी की। उस अर्धप्रशिक्षित सेना से रावण की सुगठित सुप्रशिक्षित सेना का मुकाबला हुआ और राम विजयी हुए। मारिशसवासियों के पुरुखों को भी गृह-त्याग करना पड़ा, देश छोड़ना पड़ा। वे भी कठिन परिस्थितियों में जिए। यदि इस बात को लेकर भी मारिशसवासियों ने राम से अपने को जोड़ा हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। राम-सा सौभाग्य मारिशसवासियों के पुरुखों का ही रहा, भारतवासियों का नहीं।

इसी प्रकार जनक का एक कथन उद्धृत किया गया है— *बाँडलेस इज माई पोजेशन, स्टिल आई पोजेस नथिंग!* सीमाहीन वैभव है मेरे पास, फिर भी मेरे पास कुछ नहीं है। (पृ० ६७-६६) यही भाव मनुष्य मात्र का होना चाहिए।

मारिशसवासी जैसे राम से अपने को तदाकृत करते हैं, वैसे ही हनुमान् से भी अपने को जुड़ा और एकतान पाते हैं। मारिशस के हर घर में महावीरी झण्डा फहराते हुए देखा जा सकता है, साथ ही हनुमान् का एक छोटा मन्दिर भी। मारिशस में हनुमान् पर अतिरिक्त ध्यान दिया जाता है। क्यों? इसलिए कि हनुमान् ने भी समुद्र लाँघा था। तब समुद्र लाँघना एक कठिन कार्य तो समझा ही जाता था, उसका निषेध भी था। समुद्र लाँघकर विदेश जाने पर लोग जातिच्युत और समाज से बहिष्कृत होते थे।

जब मारिशसवासियों के पुरखे समुद्र लाँघकर विदेश जाने को विवश और उद्धृत हुए होंगे, तब

उनकी क्या मनोदशा हुई होगी? ऐसे में उन्हें हनुमान् के समुद्र लाँघने से ही प्रेरणा, शक्ति और आश्वस्ति मिली होगी। मारिशसवासी भी कहते हैं— हनुमान्जी भी समुद्र लाँघते हैं और हमारे पुरखे भी समुद्र लाँघकर इस द्वीप में आए। कैसी समानता ढूँढी है मारिशसवासियों ने खुद में और हनुमान् में! अब ऐसे पवनसुत, बजरंगबली, महावीर मारिशसवासियों के प्रेरणा-स्रोत क्यों न हों?

संसार में किसी विषय पर बहस हो, तो पक्ष-विपक्ष में मतभेद स्वाभाविक है। संसद राजनीति का अखाड़ा है। वहाँ हर बात राजनीतिक नजरिए से देखी जाती है, हर बात में राजनीति ढूँढी जाती है। रामायण बिल को लेकर भी विपक्ष को राजनीति करने की आशंका न हुई हो, यह बात नहीं। विपक्ष के नेता ने **रामायण सेन्टर बिल** को लेकर राजनीति करने की आशंका जाहिर की थी। पर यह आशंका अधिक थी, आरोप कम। आशंका स्वाभाविक है। यह किसी को भी हो सकती है। पर आरोप गम्भीर होते हैं।

आशंकाओं का निराकरण हो सकता है। इसलिए जब मारिशस के संसद् में विपक्ष के नेता को बताया गया, स्पष्ट किया गया कि इस बिल के पीछे कोई राजनीति नहीं है, कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं है, तब सहज ही मान गए। मारिशस-संसद् के विपक्ष ने इसे सहजता से लिया, सराहा और उसमें सटीक संशोधन सुझाए। उसने बिलों के प्रस्तावकों को भी प्रभावित किया। विपक्ष ने दो संशोधन सुझाए। बिल के उद्देश्य में से एक था— *“टू प्रोवाइड गाइडेन्स एण्ड सपोर्ट फॉर द इंटेलेक्चुअल एण्ड मोरल एडवांसमेन्ट ऑफ द हिन्दू कम्युनिटी।”* इस सम्बन्ध में विपक्ष का सुझाव आया कि अन्त

में 'एण्ड सोसाईटी एट लार्ज' जोड़ दिया जाए। इसी प्रकार एक और प्रस्ताव— "टू प्रोमोट द रामायण एण्ड द स्पेशल एण्ड कल्चरल वैल्यू फॉलोइंग देयर फ्राम" यहाँ 'स्त्रिचुअल' शब्द जोड़ देने का संशोधन सुझाया गया। ये दोनों ही संशोधन प्रस्ताव को और अधिक प्रभावी और लोकग्राह्य बनानेवाले थे, इसलिए सहज ही स्वीकार कर लिए गए। यह है रचनात्मक विपक्ष की भूमिका।

हम इस किताब के आधार पर कह सकते हैं कि मारिशस का विपक्ष भी रचनात्मक और सर्वसमावेशी दृष्टिवाला है।

राम और रामायण को लेकर लोगों के कई तरह के मत हैं। रामायण को दो तरह की सभ्यताओं के टकराव की कहानी भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ में भी एक वक्ता ने बताया है कि इसे द्रविड़ क्षेत्र में आर्य सभ्यता का विस्तार क्यों नहीं माना जाए? या फिर इसे "कन्कटेशन ऑफ टू कलचर्स ऑफ अर्बन एण्ड फारेस्ट लाइफस्टाइल्स एण्ड देयर कनफ्लिक्ट ऑफ लक्जूरियस एडमिनिस्ट्रेशन अयोध्या एण्ड इण्डलुगेंस इन लंका" (पृ० ८०) क्यों नहीं माना जाए?

लेकिन एक दूसरे वक्ता ने इसे दूसरे ढंग से देखा है। वे यह तो मानते हैं कि इसमें दो सभ्यताओं का संघर्ष है, पर ये दो सभ्यताएँ राम-सभ्यता और रावण-सभ्यता हैं। इसे उन्होंने एक दूसरे ढंग से इस प्रकार व्याख्यायित किया है— राम की सभ्यता 'सादा जीवन उच्च विचार' की सभ्यता है, जबकि रावण की सभ्यता 'सम्पन्न जीवन और विपन्न विचार' की सभ्यता है। यहाँ बताया गया है कि जब महारानी कौसल्या का शरीरान्त हुआ, तब उनके शव को मिट्टी से ढक दिया गया। इससे स्पष्ट है कि अयोध्या

में बहुत राजकीय ताम-झाम और दिखावा नहीं था। वह एक सरल-सहज सभ्यता थी। वक्ता ने तो यहाँ तक कहा है कि अयोध्या भौतिक दृष्टि से बहुत विकसित और समृद्ध नहीं थी। शायद राम, लक्ष्मण आदि के विचरण के जो विवरण दिए गए हैं, उसमें वे बराबर नंगे पाँव घूमते दिखाए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि राम की सभ्यता रावण की सभ्यता की तुलना में ज्यादा आम-फहम है। रावण को, लंका को, सोने की लंका बनाकर और दिखाकर, ही सन्तोष हो सकता था, दशरथ ने अयोध्या को सोने की अयोध्या बनाने की बात कभी सोची भी नहीं। यदि राम की सभ्यता में विस्तारवाद के बीज होते तो वे जीती हुई लंका को विभीषण को क्यों सौंप देते?

मुझे तो लगता है कि रामायण एक घुसपैठ की कथा भी है। रावण को सोने की लंका से ही सन्तोष नहीं था। वह आर्यभूमि में, जब-तब घुसपैठ करता रहता था। उसकी इस प्रवृत्ति को विश्वामित्र ने भी समझा था। तभी वे दशरथ से राम और लक्ष्मण को माँगकर ले गए थे और रावणी घुसपैठ के प्रतिरोध के लिए उन्हें प्रशिक्षित किया था। रावण ताड़का, सुबाहु, खर, दूषण, मारीच आदि के रूप में अपने विश्वस्त अनुचर और जासूस आर्यभूमि के कई भागों में टिकाए रखता था। विश्वामित्र को लगा था कि उनका सफाया जरूरी है। यह काम राम-लक्ष्मण बखूबी कर सकते थे। राम-लक्ष्मण ने भी उनके इस दृष्टिकोण को समझा था। इसीलिए वनवास काल में उनका उद्देश्य इन दुष्ट दानवों से निबटना भी रहा होगा।

शूर्पणखा भी एक घुसपैठिया ही थी, जो न केवल क्षेत्रविशेष में घुसपैठ करती थी, वरन् राम

और सीता की कुटिया तक भी, रात्रि के सन्नाटे में, जाने का साहस और जुर्रत करती थी। लक्ष्मण ने उसको, उसके किए का उचित ही दण्ड दिया था। यह एक प्रकार से रावण को चेतावनी थी। पर रावण ने इसे चेतावनी के रूप में नहीं, चुनौती के रूप में लिया और बदले में सीता का अपहरण किया। अब राम के लिए यह जरूरी था कि वे रावण को उसके घर में घुसकर मारें। राम, लक्ष्मण, विश्वामित्र आदि बहुत दिनों तक प्रतिरक्षा की नीति अपनाए रहे, लेकिन रावण पर इस प्रतिरक्षात्मक नीति का कोई असर न हुआ। अन्त में राम को आक्रामक होना पड़ा और युद्ध रावण की भूमि पर ही हो, यह समरनीति अपनानी पड़ी। राम-रावण के संघर्ष को इस रूप में भी देखा जा सकता है।

उधर कई हलकों में यह तथ्य प्रचारित किया जा रहा है कि हनुमान् भारत के पहले आतंकवादी थे, जिन्होंने लंका में जाकर आतंक मचाया। यह भूल जाते हैं कि असल आतंकवादी तो रावण था, जिसने दक्षिणापथ में, न जाने कब से आतंकवाद के अनेक शिविर खोल रखे थे। आतंकवादी अपने आतंकवाद को बढ़ावा नहीं देते, वे इच्छित राष्ट्र की भूमि पर ही आतंकवाद का ढाँचा खड़ा करते हैं। अब ऐसे आतंकवादियों को त्रस्त और पस्त करने का एक यही रास्ता रह जाता है कि उनके घर में घुसकर ही उनको उनकी औकात जताई जाए। हनुमान् ने यही किया था।

उन्होंने सोने की लंका को जलाकर रावण को यह सन्देश देने की कोशिश की थी कि यदि वह न सँभला तो उसका क्या हस्त होनेवाला है। लेकिन रावण ने यह संकेत ग्रहण नहीं किया, फलतः उसे राम ने लंका में जाकर मारा।

आतंकवाद के खात्मे के लिए यह जरूरी होता है कि पहले उसके मूल स्थान की निशानदेही की जाए और वहाँ जाकर उसका ढाँचा खत्म किया जाए, उसे ही प्रतिरक्षात्मक युद्ध के लिए बाध्य किया जाए। यह नहीं होने पर आतंकवाद की रीढ़ नहीं टूटती। आज भारत की प्रतिरक्षात्मक नीति में यही खामी है। हम आतंकवादियों की खोज अपने क्षेत्र में कर रहे हैं, उनके क्षेत्र में खोज करने की नीति नहीं अपनाते। हनुमान् ने आतंकवाद को उसके घर में जाकर चुनौती दी थी। हमें हनुमान् की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

‘रामायण इन पार्लियामेन्ट’ एक विचारोत्तेजक कृति है। इस ग्रन्थ में एक बात बताई गई है कि स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती मारिशस में घर-घर में ‘रामचरितमानस’ की प्रति दे आया करते थे। उनकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि मारिशस रामायण-भूमि बने। उनकी इच्छा बहुत दूर तक पूरी हुई है, ऐसा माना जा सकता है। यहाँ मेरी इच्छा होती है कि ‘रामायण इन पार्लियामेन्ट’ की एक-एक प्रति भारत के सांसदों को दी जाए, कम-से-कम तथाकथित धर्म-निरपेक्षतावादियों को तो जरूर ही, तो शायद उनकी आँखें खुलें, उनके विचारों में कुछ तो परिवर्तन आए। उन्हें राम और रामायण की विरासत से जोड़ने की जरूरत है, विलगाने की नहीं। भारत में मुसलिम भाइयों को भी ‘रामायण इन पार्लियामेन्ट’ किताब पढ़नी चाहिए।

ऋतंवरा,

पो०+जिला- गोड्डा, झारखण्ड,

पिन- ८१४१३३



विजयादशमी का पावन पर्व : प्रतीकार्थ के साथ

ॐ प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह

विजयादशमी एक पावन एवं प्रकृष्ट पर्व है; जीवन को निर्मल बनाने का पर्व, आत्मशक्ति के स्फुरण का पर्व और सबसे बढ़कर मानव के मोह-निरसन का पर्व है। यह शक्ति की साधना का पर्व है, शरीर के धरातल से ऊपर और ऊँचे उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करने का पर्व है।

आर्यसंस्कृति में व्रत और पर्व आत्मशक्ति एवं आत्मसाधना के पवित्रतम एवं प्रकृष्टतम प्रयास हैं। पर्व मनाने का अर्थ है—जीवन को सात्त्विक बनाना, मन को निर्मल एवं ऊर्ध्वगामी बनाना तथा

इन्द्रियों को शुभ दिशा की ओर ले चलना। अस्त से सत् की ओर प्रयाण, तम से ज्योति की ओर प्रस्थान तथा मृत्यु से अमरता की ओर अभियान व्रतों, पर्वों और उत्सवों का एकान्त उद्देश्य है।

पूर्णता को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। पूर्णता पावनता से प्राप्त होती है। हमारी पूर्णता अल्प में नहीं है, अनित्य में नहीं है। वह असीम में है, भूमा में है, ब्रह्म में है। हमारा सुख भी भूमा में है, असीम में है। जो अल्प है, ससीम है, परिमित है, क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं है— **“यो वै भूमा ततस्सुखं नाल्ये सुखमस्ति। भूमैव सुखम्”** (छान्दोग्योपनिषद् : ७.२३.१)।

हम पूर्ण के अंश हैं। अतः अपूर्ण हैं। ब्रह्म अखण्ड, अव्यय और असीम हैं। हम खण्ड हैं, ससीम हैं। पर्व, व्रत, उपासना, उत्सव, प्रार्थना, अर्चना-आराधना इसी पूर्णत्व की दिशा में ले चलने के प्रकृष्टतम एवं पवित्रतम साधन हैं। आर्यमन अति प्राचीन काल से जीव की इसी अल्पता को भूमा में बदलने का, जीव की मलिनता को विमलता में परिणत करने का पावन प्रयास इन्हीं पर्वों के

माध्यम से करता चला आ रहा है।

प्रातिवाह्य आशिवान शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से लाने का

[दुर्गासप्तशती के अनुसार 'दुर्गम' नामक असुर का संहार करने के कारण भगवती 'दुर्गा' कही जाती है। इस प्रकार हमारे अन्दर और बाहर के जो भी अपराजेय दुर्दान्त शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि हैं, सबों का संहार करने वाली माँ दुर्गा की पूजा का शारद क्रम विजयादशमी का पावन पर्व है।

—सं०]

शुक्लपक्ष की नवमी तक ब्रह्म की महाशक्ति की पूजा, आदिशक्ति की अर्चना-अभ्यर्थना नौ दुर्गा के रूप में करने का विमल विधान हमारे पूर्व पुरुषों ने चलाया। तत्पश्चात् उसी शुक्लपक्ष की दशमी तिथि को विजयपर्व के रूप में हम इस पावन पर्व को अत्यन्त पवित्रता एवं आत्मिक उल्लास के साथ मनाते हैं। इसे हम महोत्सव का रूप देकर मनसा, वाचा और कर्मणा (तन-मन-धन से) मनाते हैं। यह पावनता-पवित्रता का मंगलमय पर्व है। आदिशक्ति दुर्गा की नौ दिनों श्रद्धा-भक्ति के साथ पूजा-प्रार्थना करने का पावन परिणाम है विजयादशमी। इसे लोकभाषा में, लोकवाणी में 'दसहरा' भी कहते हैं। इसका संकेतसूत्र है— दस हारा अर्थात् दसों

दिशाओं में परिव्याप्त मोह-रावण को हराना या मोह-रावण के समूल निरसन और समापन के पश्चात् दसों दिशाओं में हरापन अर्थात् प्रसन्नता का दिखाई पड़ना।

ध्यातव्य है कि 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामी तुलसीदास ने रावण को मोह, कुम्भकर्ण को अहंकार तथा मेघनाद को काम कहा है—

मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित् काम बिस्त्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट,
क्रोध पापिष्ठ बिबुधान्तकारी।।
द्वेष दुर्मुख, दम्भ खर, अकम्पन कपट,
दर्प मनुजाद, मद सूल-पानी।
अमितबल परम दुर्जय निसाचर-निकर,
सहित षड्वर्ग गो-जातुधानी।।

(विनय-पत्रिका : ५८.४-५)

मोहरूपी रावण, अहंकार-रूपी कुम्भकर्ण और कामरूपी मेघनाद तथा दुर्जय नाना प्रकार की विकृतियों के प्रतीक राक्षसों तथा राक्षसियों के साथ बैठा अटल राज्य कर रहा है। लोभरूपी अतिकाय, मत्सररूपी दुष्ट महोदर, क्रोधरूपी महापापी देवान्तक, द्वेषरूपी दुर्मुख, दम्भरूपी खर, कपटरूपी अकम्पन, दर्परूपी मनुजाद (नरान्तक) और मदरूपी शूलपाणि आदि बड़े पराक्रमी दुर्जय राक्षस तथा इन्द्रियरूपी राक्षसियाँ भी हैं। दस दिनों तक चलनेवाला दुर्गापूजा तथा विजयादशमी का यह पावन पर्व मोह-रावण सहित इन्हीं राक्षसों तथा राक्षसियों को मारकर आत्मशक्ति से सम्पन्न होने का पावन पर्व है।

नवरात्र में शक्ति की आराधना-उपासना का यह पावन पर्व आर्यमन की इसी धारणा का पवित्र प्रतीक है। अतः इस पावन पर्व में समर्पण एवं बलिदान को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। यह समर्पण, यह त्याग और यह बलिदान बाह्य वस्तुओं का नहीं, अपितु अपने अहं का है, अपने अतिरिक्त काम, अतिरिक्त क्रोध और अतिरिक्त लोभ का है, ममता-मोह का है; मत्सर, द्वेष, दम्भ, दर्प, मद, छल-कपट आदि मन की विकृतियों का है।

दुर्गापूजा का यह पर्व शक्तिसंचय का अद्वितीय अनुष्ठान है, शारीरिक-बल के स्थान पर आत्मबल के अर्जन का अनुपम अनुष्ठान है। यह दिव्यता की प्राप्ति का प्रकृष्टतम पर्व है। इस महोत्सव में आद्याशक्ति की सहज स्नेहाभिव्यक्ति नौ दिनों और नौ रात्रियों तक निरन्तर प्रकट होती रहती है। यह आद्याशक्ति ही अदिति है, जो दिव्यता की जननी है। आद्याशक्ति की शीतल शरण और आनन्ददायी आश्रय में जाने का अर्थ है— अपने मन की मलिनता को मिटाना, पापमयता को निष्पापता में परिणत करना। निष्पापता ही निर्मलता का दान करती है और तब जीव पूर्णता को प्राप्त करने की शक्ति-क्षमता पाता है। निर्मल मन से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने विभीषण-शरणागति के प्रसंग में कहा भी है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।।

(मानस : ५.४३.५)

इतना ही नहीं, सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में मंगलाचरण के दूसरे श्लोक में निर्भरा भक्ति की माँग करते हुए भक्त कवि तुलसीदासजी ने भगवान् श्रीराम से अपने मन को कामादि दोषों से रहित करने की प्रार्थना की है—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये

सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे

कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।।

(मानस : ५.२)

विशुद्ध मन से ही, पवित्र हृदय से ही योगी इस विकट एवं भयंकर संसार-नदी को पार कर जाते हैं। श्रीभर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ 'वैराग्यशतक' में कहा भी है कि योगी पवित्र मन से, सात्त्विक संकल्प से इस आशा नाम की विकट नदी को पार कर जाते हैं—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला

रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यदुमध्वंसिनी।

मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ।।

(श्लोक संख्या : ४५)

दुर्गापूजा के रूप में नवरात्र में हम आत्मसाधना के द्वारा अपनी प्रसुप्त आत्मशक्ति को उपाजित करते हैं।

नौ अंक सबसे बड़ा अंक है। यह पूर्णता का द्योतक है। अतएव नौ दिवा-रात्रि की यह विमल वेला आत्मसाधना तथा आत्मशक्ति को प्राप्त करने के श्रेष्ठ एवं प्रकृष्ट प्रयास को बिम्बित करती है। इस विमल वेला में हमें यह बोध होना चाहिए कि इस पूरी सृष्टि की एक शिखर संचालिका शक्ति है, जो विश्व-वसुधरा के प्राणियों के कल्याण एवं मंगल के निमित्त अहर्निश सेवारत है, जो सब पर बराबर दया का दान करती रहती है। पर यह अभागा जीव है, जो उस अनन्त वात्सल्यमयी संचालिका शक्ति की अहैतुकी, अकारण दया-भाव को स्वार्थ के वशीभूत होकर केवल अपने लिए सुलभ करना चाहता है। इसीलिए वह बराबर दीन-हीन बना रहता है और जीवन भर कष्टों को सहता रहता है।

यह पावन पर्व हमें अपना उद्धार-उन्नयन करने का सुन्दर अवसर प्रदान करता है, जीव को ऊर्ध्वगमन की प्रेरणा देता है तथा सुख-शान्ति एवं सुरक्षा का कवच प्रदान करता है। पर हमारी आराधना-अर्चना तथा पूजा-प्रार्थना जब स्वार्थ पर आधारित हो जाती है, तब हमें कुछ प्राप्त नहीं होता। विजयादशमी की इस पावन एवं विमल वेला में निःस्वार्थ भाव से निष्काम होकर ही पवित्र मन से उस परम दिव्य शक्ति से, उस अप्रतिम आदिशक्ति अदिति माता से हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि हमारा आत्मोन्नयन हो, जिससे हम सारे भेद-भावों के कल्मषों को पार कर समता-सद्भाव की दिशा में अग्रसर हों और पूर्णत्व को, दिव्यत्व को, भूमा के सुख को प्राप्त करें। दिव्यत्व एवं पूर्णत्व की प्राप्ति ही मानव-जीवन की एकमात्र

सार्थकता है और विजय का यह पर्व इसी पूर्णत्व की प्राप्ति का पावन अवसर प्रदान करता है।

यह पर्व रावण के एक और प्रतीक को बिम्बित करता है। रावण भोग का, बहिर्मुखता का प्रतीक है। वह अपनी दसों इन्द्रियों- पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों- से बहिर्जगात् का, संसार का भोग करता है। मोह का प्रबलतम रूप है दस सिर वाला रावण, सारे संसार को रूलानेवाला है रावण, आतंक और उत्पात का प्रचण्ड प्रतीक है रावण। श्रीराम अखण्ड ज्ञान हैं- 'ज्ञान अखण्ड एक सीताबर।' श्रीराम द्वारा रावण को मारना पूर्ण एवं अखण्ड ज्ञान द्वारा दसों इन्द्रियों से युक्त बहिर्मुखता के प्रतीक मोह- रावण को समाप्त करना है।

गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसाद (कृपा) से ही अर्जुनरूपी जीव का मोह नष्ट हुआ है- 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' (१०.१३)। हम जानते हैं कि मोह अज्ञानजनित होता है। जब तक अज्ञानजनित मोह नष्ट नहीं होता, तब तक आत्मस्वरूप की स्थिति प्राप्त नहीं होती। छान्दोग्योपनिषद् : ७.२६.२ में स्पष्ट लिखा गया है- "आहारशब्दौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।"

ज्ञान के प्रभाव से ही अज्ञानजनित हृदय-ग्रन्थि (बुद्धि की गाँठ) छिन्न हो जाती है। रावण-मोह के नाश से ही विभीषण-जीव की आत्मस्मृति लौटी, मोह-रावण का नाश हुआ और रामराज्य की स्थापना हुई। इस प्रकार विजयादशमी एवं दुर्गा-पूजा का यह पर्व भौतिकता, सांसारिकता और अतिशय विषयासक्ति पर विजय पाने का पर्व है। रावणत्व पर रामत्व की, असुरत्व पर सुरत्व की, अन्धकार पर प्रकाश की, अज्ञान पर ज्ञान की; अत्याचार, अनाचार और अन्याय पर सदाचार और न्याय की विजय का पर्व है यह।

मोह ही जीव को संसार में भटकाए और भुलाए रहता है। यही मानव की सारी बुराइयों और बीमारियों की जड़ है। गोस्वामी तुलसीदास ने रोगप्रसंग में कहा है-

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।

तिन्ह ते पुनि उपजाहिं बहु सूला।।

(मानस : ७.१२.२६)

इसीलिए गीता और रामचरितमानस इन दोनों धर्मग्रन्थों में ईश्वर जीव के मोहनाश में सहयोग करता है। गीता में उपदेश द्वारा तथा रामचरितमानस में अद्वैत के बाण द्वारा— ‘सायक एक नाभिसर सोषा’— नाभि चित्त के संस्कार का प्रतीक है। बिना ज्ञान के मोह का नाश असम्भव है। गीता में अर्जुन जीव का प्रतीक है और मानस में विभीषण जीव का प्रतीक है— “जीव भव दंघ्रि सेवक बिभीषण, बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता” (विनय-पत्रिका : ५८.६)। अर्जुन और विभीषण दोनों मोह से ग्रस्त हैं। जिस प्रकार मोहरूपी रावण को मारना कठिन है, उसी प्रकार संसार का भोग, बहिर्जगत् और परिवार आदि की ममता और आसक्ति आदि का नाश बड़ा कठिन है। भोग की तृष्णा शान्त होने का नाम ही नहीं लेती। अतएव युद्ध में श्रीराम द्वारा तीस-तीस बाण मारने पर भी मोह-रावण नहीं मरता। श्रीराम दस बाणों से रावण के दस सिरों को तथा बीस बाणों से उसकी बीस भुजाओं को काट देते हैं, पर शीघ्र ही उसके दसों सिर तथा बीसों भुजाएँ उग आती हैं। यह है मोह का स्वरूप, यह है तृष्णा का, भोग और आसक्ति का स्वरूप। अन्त में श्रीराम जीवरूपी विभीषण की ओर देखते हैं, मानो पूछते हैं कि क्या तुम सचमुच अपने मोह-रावण का नाश चाहते हो? तुलसीदासजी यहाँ एक संकेतसूत्र देते हैं—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेखा।

राम बिभीषण तन तब देखा।।

(मानस : ६.१०१.२)

विभीषणरूपी जीव ने युक्ति बताई—

नाभिकुण्ड पियूष बस याके।

नाथ जिअत रावनु बल ताके।।

(मानस : ६.१०१.५)

और तब भगवान् श्रीराम ने एक बाण रावण की नाभि में मारकर अमृत को सुखा दिया, इसके बाद रावण मर गया।

यह रूपक इसलिए दिया गया है कि हम समझ सकें कि रावण मोह है, विभीषण जीव है तथा लंका का गढ़ (किला) इस शरीर-रूपी ब्रह्माण्ड में जीव की प्रवृत्ति है। जीव ही इस शरीररूपी ब्रह्माण्ड का स्वामी है, पर वह मोह के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को भूल गया है तथा मोह के अधीन होकर उसके इंगित से चल रहा है। गोस्वामी जी ने इस प्रतीक को भी लिखा है—

बपुष ब्रह्माण्ड, सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग,

रचित मनदनुजमय रूप धारी।

(विनय-पत्रिका : ५८.२)

आइए, हम यह देखने का प्रयास करें कि विजयादशमी, श्रीराम और लंकाधिपति रावण के बीच क्या सम्बन्ध है? यह त्रिक हमें क्या सन्देश देता है? हमारे यहाँ शास्त्र को ही प्रमाण माना जाता है। देवीपुराण की मान्यता है कि रावण को मारने के लिए श्रीराम ने दुर्गाजी की पूजा की थी। दुर्गापूजा तथा इस पूजा की प्रथा का इस घटना से भी सीधा सम्बन्ध है। बंगला-साहित्य में कृत्तिवास की रामायण तथा महाप्राण श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’ की ‘राम की शक्ति-पूजा’ नामक लम्बी कविता में इस घटना का विशद वर्णन देखने को मिलता है। ‘निराला’ के राम के मन पर सांघातिक चोट उस समय लगती है, जब वे देखते हैं— ‘अन्याय जिधर है, उधर शक्ति।’ निरालाजी लिखते हैं कि राम अपने विरुद्ध शक्ति को देखकर हतप्रभ हो उठते हैं—

मित्रवर, विजय होगी न समर,

यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,

उतरी पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण

अन्याय जिधर, है उधर शक्ति।

(राम की शक्तिपूजा)

श्रीराम की पीड़ा अधर्मी रावण को शक्तिशाली होते देखकर और भी फूट पड़ती है—

आया न समझ में यह दैवी विधान,
रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर-
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर, शंकर!
इतना ही नहीं, राम और देखते हैं—
लाँछन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक।

श्रीराम की इस निराशाजनक मनःस्थिति को देखकर, उनकी व्यथा और चिन्ता को देखकर स्थिरबुद्धि जाम्बवान्, जो विवेक के प्रतीक हैं, आगे आते हैं और श्रीराम की चिन्ता एवं समस्या का समाधान इस रूप में करते हैं— हे राम! आप भी शक्ति की एक नई कल्पना करें मौलिक कल्पना करें। शक्ति को अपनी आराधना, अर्चना और पूजा-प्रार्थना से अपने वश में करें। अशुद्ध, अपवित्र, आततायी, अन्यायी और अत्याचारी रावण यदि अपनी अर्चना-आराधना से शक्ति को अपने वश में करके त्रस्त कर रहा है तो आप भी अपनी साधना, आराधना और अर्चना-अभ्यर्थना से शक्ति को वश में करके रावण का नाश करें—

रघुवर, विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधना का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय सन्तत प्राणों से प्राणों पर,
रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त,
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!

(राम की शक्तिपूजा)

यहाँ पर निरालाजी ने एक बड़ी सार्थक एवं सांकेतिक बात कही है— 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना।' समाज में तथा व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि शक्ति की साधना और आराधना हम अपने लिए ही अधिकतर करते हैं। हमारी पूजा-प्रार्थना एवं अर्चना-आराधना के मूल में वैयक्तिक हित और लाभ ही अधिक रहता है। जिस आराधना में, जिस साधना में स्वार्थ एवं वैयक्तिक लाभ है, वह सच्ची साधना और आराधना नहीं है। उसे हम

मौलिक नहीं कह सकते। मौलिक आराधना वह है जो समष्टिहित, मानवहित हो, लोकमंगल के लिए हो।

विवेकी जामवन्त की बात मानकर श्रीराम ने शक्ति की सच्ची साधना और सही आराधना की। सुपरिणाम यह हुआ कि जो महाशक्ति अन्याय के साथ थी, अशुद्ध एवं अत्याचारी तथा पापी रावण के साथ थी; वह न्याय, सत्य, धर्म और नीति के मूर्तिमान् प्रतीक श्रीराम के साथ हो गई।

शक्ति की प्राप्ति के लिए श्रीराम की आराधना का २३वर्णन निराला ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से किया है। महाशक्ति के लिए राम ने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। सर्वस्व समर्पण का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण बहुत कम देखने को मिलता है। श्रीराम दशभुजा, विश्वज्योति, महिषासुर-मर्दिनी जगदम्बा के आश्रित होकर उनकी पूजा-प्रार्थना एवं अर्चना-आराधना करने लगते हैं—

मातः दशभुजा, विश्व-ज्योति, मैं हूँ आश्रित,
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित,
जनरंजन-चरण-कमल-तल, धन्य सिंह गर्जित।
यह, यह मेरा प्रतीक, मातः समझा इंगित
मैं सिंह इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।

(राम की शक्तिपूजा)

श्रीराम आदिशक्ति की पूजा अब भिन्न रूप में करने लगते हैं। अब यहाँ न स्वार्थभाव है, न मात्र प्राणप्रिया जानकी को पाने की कामना। राम आदिशक्ति दुर्गा से, अनन्त वात्सल्यमयी माँ से पराक्रम और पौरुष का वह रूप चाहते हैं, जो उनके 'जन-रंजन-चरण-कमल-तल' के सिंह में है। महाशक्ति जगदम्बा मानव-मंगल एवं जनकल्याण हेतु ही समय-समय पर अवतार लेकर दुष्टों का नाश किया करती हैं। वे स्वयं कहती हैं—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।

तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि-संक्षयम्।।

(दुर्गा-सप्तशती : ११.५४-५५)

जनरंजन-भाव ही माँ का दिव्य भाव है। श्रीराम अब इसी भाव से आततायी-अत्याचारी

रावण को मारने के लिए माँ की पूजा-अर्चना करने लगते हैं, ताकि फिर कोई मातृशक्ति दुष्टता की प्रताड़ना का शिकार न बने। मानव के मन के असुर के शमन के लिए ही राम भगवती आदिशक्ति दुर्गा की पूजा-अर्चना करने लगते हैं। पूजा एवं प्रार्थना के स्वरूप का कैसा दिव्य रूप है यह! राम सर्वत्र माँ को ही देखने लगते हैं। सामने का पर्वत उन्हें पार्वती मैया के रूप में दिखाई पड़ने लगता है—

देखो, बन्धुवर सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना है इसकी, मकरन्द-बिन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु,
दशदिक्-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिग्म्बर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव-मंगल पददल धँस रहा गर्व-
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व।

(राम की शक्तिपूजा)

हमने आज दिव्य दुर्गापूजा और विजयादशमी के पावन पर्व को होली का हुड़दंग बनाना शुरू कर दिया है। यह दिव्यता, पावनता एवं सात्त्विकता का प्रकृत पर्व है। यह तो अन्तःकरण-चतुष्टय— मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार— को पवित्र करने का पर्व है। पर्व का यह रूप अतीव निर्मलता एवं विमलता की अपेक्षा रखता है। मानव-जीवन में यदि बाह्य और आन्तरिक शुचिता नहीं है, यदि ज्ञान और यज्ञ (कर्म) का समन्वय नहीं है, तो वह मनुष्य ही नहीं है। यह पावन पर्व हमें मनुष्य बनने का अवसर प्रदान करता है।

विजयादशमी का यह पर्व शुभ की ओर, शिवता की ओर तथा मंगल एवं दिव्यत्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। ध्यान रहे, मानव के समग्र उन्नयन-उत्थान में पवित्रता तथा प्रार्थना, ज्ञान तथा साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं के माध्यम से हम आवरणों से मुक्त हो सकते हैं और अखण्ड, अव्यय सत्ता से साक्षात्कार कर सकते हैं।

नवरात्र पूजा के शुभ अवसर पर हमें यह पावन संकल्प लेना होगा कि हम इस पावन पर्व को

प्रदर्शन तथा दिखावे से दूर रखेंगे और कृत्रिम सजावट के नाम पर अकृत धन खर्च कर अपने अहं को न दिखाएँगे। फिल्मी गीतों, अश्लील गानों और विशाल पण्डालों के निर्माण और कृत्रिम सजावटों द्वारा क्या हम अपने मन के मन्द असुरभाव का ही प्रकटीकरण नहीं करते? पूजा एवं पर्व में जिस मांगल्य भाव, सात्त्विकता, शुचिता और शिवता-दिव्यता की अपेक्षा होती है, ये सारी चीजें हमसे विदा ले रही हैं। मात्र कृत्रिमता, दिखावा, प्रदर्शन और अहंभाव ही दुर्गापूजा में सर्वत्र देखने को मिल रहे हैं।

हम प्रतिवर्ष कागज, लकड़ी और पटाखों से सुसज्जित दशमुख रावण के लम्बे-लम्बे भीमकाय पुतले बनाकर और हजारों-लाखों रुपये खर्च कर जलाते चले आ रहे हैं, पर हमारे मन का रावण ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। क्या कारण है कि हमारे मन का मन्द रावण, हमारे भीतर का अहंकार-कुम्भकर्ण तथा प्रबल एवं प्रचण्ड काम का प्रतीक मेघनाद ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं? कृत्रिम रावण और उसके परिवार के अन्य सदस्यों को जलाकर क्या हम असली रावण की भूमिका नहीं निभा रहे हैं?

हमारे समाज और देश में प्रतिदिन असंख्य धूम्रलोचन, चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज, मधु-कैटभ, शुम्भ-निशुम्भ, महिषासुर, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, कंस, शिशुपाल, दन्तवक्र, दुर्योधन-दुःशासन आदि सीता, सावित्री द्रौपदी-सद्गुण असंख्य सती नारियों को जिस नीच एवं नापाक दृष्टि से देखते, प्रताड़ित करते, लांछित और अपमानित करते हैं, कुत्सित और मर्दित करते हैं, उससे क्या यह नहीं लगता कि हम फिर से पशुता-राक्षसता की गलत दिशा में बड़ी तेजी से दौड़ लगा रहे हैं? ऐसी स्थिति में दशमुख रावण का पुतला जलाकर और लाखों रुपयों की गाढ़े की कमाई खर्च कर हमने क्या पाया? इस प्रतीक-परम्परा से हमने कौन-सी सीख ली? क्या इस प्रतीक से हम रामत्व की दिशा में, शिवत्व एवं दिव्यत्व की दिशा में दो कदम भी

आगे बढ़े या शुचिता-स्वच्छता तथा मर्यादा की दिशा में चलने का एक छोटा-सा भी पावन संकल्प हमने लिया है? यदि नहीं, तो हजारों-लाखों-करोड़ों रूपयों का स्वाहा करने की क्या आवश्यकता है?

आज अपने राष्ट्र में जिस विकृत रूप में दुर्गापूजा का हम प्रदर्शन कर रहे हैं, वह इस पर्व के महत् उद्देश्य से बहुत भिन्न है। इस पर्व से, इस शक्तिसाधना से यदि हमारी अहंवृत्ति नहीं मिटी तो बेशुमार सम्पदा तथा अथक शक्ति के अपव्यय से क्या लाभ? आत्मसाधना द्वारा आत्मशक्ति की उपलब्धि एवं महाशक्ति की कृपा-करुणा की प्राप्ति ही इस नवरात्र तथा विजयादशमी का पावन एवं एकमात्र उद्देश्य है।

मेरे कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि यह पुनीत परम्परा बन्द कर दी जाए। मैं केवल इस बात का विरोध करता हूँ कि इस पावन परम्परा में घुस आई कृत्रिमता, प्रदर्शन-प्रियता, बनावटीपन और अहंकार भाव से हम बचने का प्रयास करें तथा इस प्राणवन्त प्रतीक-परम्परा से सीख लेकर अपने अन्दर के दुर्दान्त दानव रावण तथा हिंस्र पशु महिषासुर और उद्धत दुर्योधन-दुःशासन से त्राण पाएँ।

गर्व, अभिमान, अहंकार, मोह-ममता आदि मानव के मन के आसुर भाव हैं। इन आसुर भावों के परिशमन के लिए दुर्गापूजा मनाने की प्रथा प्रारम्भ की गई थी। यह आत्मिक शक्ति की प्राप्ति का पर्व है। यह पूजा शक्ति की उपासना है, उस दिव्य शक्ति की जो अत्याचार-अनाचार से त्रस्त धरती और उसके जन की रक्षा के लिए कभी काली, कभी लक्ष्मी और कभी सरस्वती के रूप में अवतार लेकर पशुता, दानवता, राक्षसता, लम्पटता, लोलुपता, कामुकता, क्रोध, मोह आदि का, राग-द्वेष का, मान-मत्सर का, ईर्ष्या-डाह का नाश करती हैं और सामूहिक रूप में अपने को दुर्गा के नाम से प्रतिष्ठित करती हैं। इसलिए इस पर्व में शुचिता, स्वच्छता और सात्विकता की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिए हमारे अन्दर संयम,

शील, शुचिता, श्रद्धा, सेवा, समर्पण, शिवता, विनय, मर्यादा, नम्रता आदि का होना परम आवश्यक है।

इसीलिए भगवान् श्रीराम माँ की आराधना के लिए ऊर्ध्वगमन की यौगिक क्रिया को अपनाते हैं। एक सौ आठ कमल-पुष्पों से देवी की अर्चना-आराधना करते हैं और षट्चक्र का भेदन कर वहाँ पहुँचना चाहते हैं, जहाँ अनन्त कृपालु, वात्सल्यमयी माँ की कृपा से आत्मशक्ति का अक्षय पुंज लहराता रहता है। निराला का वर्णन देखें—

**बीता वह दिवस हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन-से-गहनतर होने लगा समाराधन।
क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस,
चक्र-से-चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस,
कर जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।**

(राम की शक्तिपूजा)

शक्ति की साधना सर्वस्व समर्पण की अपेक्षा रखती है। यही कारण है कि राजीवनयन राम एक कमलपुष्प के छूट जाने पर अपने एक नेत्र का दान देने के लिए तत्पर हो जाते हैं। कमलनयन के दान का प्रतीक बड़ा ही साभिप्राय है। अपने को सम्पूर्णतया समर्पित कर देने पर ही अक्षय आत्मशक्ति प्राप्त होती है। दुर्गापूजा में समर्पण से ही सिद्धि मिलती है; प्रदर्शन या दिखावे या अहंकार से नहीं। इस पूजा में अहंकार का विसर्जन ही महत्त्व की बात है। ज्योंही श्रीराम अपना एक नेत्र कमलपुष्प के रूप में माँ के पावन चरणों पर चढ़ाने को तत्पर हुए, त्योंही माँ प्रकट होकर विजय का आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!

यह कहकर वे श्रीराम के शरीर में लीन हो गईं, प्रवेश कर गईं।

इस प्रतीक का तात्पर्य यह है कि हमें अपने अन्दर एक विराट् भाव, एक मंगलमय भाव और शिव उद्देश्य को लेकर ही माँ दुर्गा की पूजा-प्रार्थना करनी चाहिए। सर्वस्व समर्पण का दिव्य भाव आते

ही माँ दुर्गा की कृपा प्राप्त होगी। ऐसा करके ही हम अपनी सनातन जीवन-यात्रा में लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होंगे तथा जीवन-समर में विजयी होंगे। पूरे नवरात्र में महाकाली महालक्ष्मी और महासरस्वती की पूजा दुर्गा के रूप में श्रद्धा-भक्ति से करने पर समस्त पाशविक और दानवी दुष्प्रवृत्तियों एवं दुर्गुणों का विनाश होगा तथा एक नवीन आत्मिक-आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति होगी। इसी आत्मिक शक्ति से मोह-रावण पर विजय प्राप्त होगी, हमारे मन के मोह का निरसन होगा, अन्यथा मोह-रावण अपनी प्रचण्ड तथा प्रबल चतुरंगिणी सेना से संसार-समर में हमें पराजित करता रहेगा।

रामचरितमानस के लंकाकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदासजी ने मोह-रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए विभीषण-रूपी जीव को लक्ष्य कर जिस धर्मरथ या विजयरथ का रूपक प्रस्तुत किया है, उसके मूल में धर्म के सही रूप का ही विवेचन है। इस धर्मरथ के अंग-उपांग हैं। शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम, परहित का भाव, क्षमा, कृपा, समता, ईश्वर-भजन, वैराग्य, सन्तोष, दान, बुद्धि, वर विज्ञान, अमलता-अचलता से युक्त मन, संयम-नियम, विप्रत्व के प्रति श्रद्धाभाव, गुरुपूजा आदि। हमारा यह मानव-शरीर एक रथ के समान है, धर्म का रथ है। श्रीमद्भागवत महापुराण में भी कहा गया है कि यह नरदेह बड़ा ही सुदृढ़ तथा मजबूत जहाज है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लावं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।

(भागवत : ११.२०.१७)

मानव-जीवन में धर्म के अभाव में कुछ भी मूल्यवान् नहीं पाया जा सकता। संसार-सागर से पार जाने के लिए तथा संसार-समर में विजय पाने के लिए इस शरीररूपी धर्मरथ की नितान्त

आवश्यकता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने धर्मरथ-वर्णन के प्रसंग के अन्त में कहा भी है—

सखा धर्ममय अस रथ जाकें ।

जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।

(मानस : ६.७६.११)

आगे दोहा में भी वे और भी स्पष्टता से कहते हैं—

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर ।

जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ।।

(मानस : ७.२०)

अहंकार और अभिमान भी मोह की ही भाँति शोकप्रद शत्रु हैं। अतएव पूजा-प्रार्थना में, अर्चना-आराधना में, पर्व-त्योहार में इस अतिशोक-दायक अहंकार-अभिमान से सदा बचते रहना चाहिए। अतिसात्त्विक अहंकार भी मानव के पतन का कारण बनता है। मानसरोग-प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदासजी ने हमें सावधान करते हुए कहा है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना ।

सकल सोक दायक अभिमाना ।।

(मानस : ७.७३.६)

इस प्रकार मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम ने माँ भगवती एवं महाशक्ति की मूर्ति दुर्गा की सही पूजा एवं सच्ची उपासना-अर्चना कर अमित आत्मिक शक्ति प्राप्त कर दशमुख रावण का वध किया, धरती से निशाचरत्व का समापन किया, शान्ति-सीता, भक्ति-सीता, सद्भावना-सीता को मुक्त किया, धरती पर रामराज्य की स्थापना की और संसार को राक्षसता से त्राण दिलाया। श्रीराम ने अपने सेतु-व्यक्तित्व से विषमता की दुर्लघ्य खाइयों को पाटा, दूरियों को मिटाया और हम संसारी मनुष्यों को सच्ची पूजा-प्रार्थना करने की सीख दी। साथ ही उन्होंने हमें यह शिक्षा दी कि किस प्रकार हम संसार-सागर को निरापद पार कर सकते हैं तथा किस प्रकार संसार-समर में विकृतियों, विघ्नों और विपदाओं का सामना करते हुए विजयी बन सकते हैं। उनके नररूप में अवतार लेने का यही तात्पर्य

है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लोकहित के लिए श्रीराम के अवतार लेने का उल्लेख भी किया है—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।

जग बिस्तारहिं विसद जस राम जन्म कर हेतु।।

(मानस : १.१२१)

सोई जस गाड़ भगत भव तरहीं।

कृपासिन्धु जनहित तनु धरहीं।।

(मानस : १.१२१.१)

यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन में भी स्थायी शान्ति, सच्ची, समृद्धि और अक्षय तथा कमनीय कीर्ति प्राप्त हो तो हमें माँ दुर्गा भवानी की पूजा और प्रार्थना, अर्चना और आराधना उसी निष्ठा, उसी श्रद्धा तथा समर्पण के उसी पूत भाव से करनी चाहिए, जिस भाव से, जिस निष्ठा, श्रद्धा एवं समर्पण-भाव से श्रीराम ने की थी। यही दुर्गा-पूजा एवं विजयादशमी का पावन सन्देश है, महत् उद्देश्य है।

आइए, हम भी आदिशक्ति, महाशक्ति माँ दुर्गा की पूजा और अर्चना श्रीराम की ही भाँति धर्मरथ पर सवार होकर करें तथा माँ दुर्गा की कृपा-करुणा तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त कर इस जीवन-संग्राम में, इस संसार-समर में विजयश्री का वरण करें।

विजयादशमी, श्रीराम और राक्षसराज दशमुख रावण का यह त्रिक हमारे जीवन को आशा, आस्था, उत्साह, उमंग और उल्लास की एक दिव्य सुगन्ध से भर देता है। इस अवसर पर जगद्गुरु आदि शंकराचार्य का यह कथन स्मरण में आ रहा है, जिसमें कहा गया है कि मोहरूपी सागर को पार कर तथा काम, क्रोध आदि राक्षसों को मारकर ही शान्ति-सीता से आत्माराम का मिलन होता है—

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा काम-क्रोधादि-राक्षसान्।

शान्तिसीता-समायुक्तः आत्मारामो विराजते।।

हमें भी श्रीराम के बताए मार्ग पर चलकर ही शान्ति, समृद्धि, समानता, विजयश्री आदि की कामना और प्रार्थना करनी चाहिए। रामत्व के मार्ग

पर चलना सिखाती है यह दुर्गापूजा। निशाचरत्व एवं मन के मैल का नाश करना सिखाता है यह पर्व। अन्तःकरण-चतुष्टय को निर्मल बनाकर आत्मिक शक्ति प्राप्त करने का पावन पर्व है विजयादशमी। तभी तो विपत्तिनाश एवं संसार-रिपु से त्राण पाने के लिए 'दुर्गा-सप्तशती' में प्रार्थना की गई है—

शरणागत-दीनार्त-परित्राण-परायणे।

सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते।।

(दुर्गासप्तशती : ११.१२)

जीव का परित्राण कहाँ है? यह परित्राण आत्मा की पहचान में है, आत्मशक्ति के अन्वेषण-आविष्कार में है। प्रत्येक मानव के भीतर एक अविभाज्य-चैतन्य सत्ता निरन्तर विद्यमान है। वही ब्रह्म है, वही राम है, वही कृष्ण है, वही नारायण है, वही नारायणी है, सीता, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा है, वही वैष्णवी शक्ति है, अनन्त करुणामयी माँ भी वही है। 'दुर्गा-सप्तशती' में ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसी वैष्णवी शक्ति से प्रार्थना की गई है—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या

विश्वस्य बीजं परमासि माया।

सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्

त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः।।

(दुर्गा-सप्तशती : ११.५)

इसी अप्रत्याख्येय के ज्ञान को प्राप्त करने की विधि का पता देता है, विजयादशमी का यह पावन पर्व। पुरुषोत्तम नवीन के रूप में हमें भी दुर्गाजी की पूजा से अपने जीवन को एक नए रूप में ढालना है, गढ़ना है, आत्मशक्ति को प्राप्त कर, मोहादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी है। यह आत्मशक्ति ही दशभुजा माँ दुर्गा के स्वर में आशीर्वाद देगी—

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।

ऋतम्भरा, शान्तिपुरी,
पो०- मोतीहारी, पूर्व चम्पारण,
(बिहार)

बाह्यण एवं श्रमण परम्पराओं का समन्वय

ॐ आचार्य किशोर कुणाल

भगवान् बुद्ध दया के सागर थे; करुणा के महार्णव, परोपकार की प्रतिमूर्ति और त्याग के विग्रहवान् स्वरूप थे। राज-प्रासाद की समस्त सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देकर एवं युवती पत्नी और नवजात पुत्र का परित्याग कर वे सत्य के अन्वेषण में निकले थे। घोर तपस्या से उन्होंने अपने शरीर को तपाकर कृशकाय, मरणासन्न स्थिति में पहुँच चुके थे। किन्तु जब उन्हें परम ज्ञान निर्वाण की प्राप्ति हुई, तब वे उस अमृत को ४५ वर्षों तक लोगों के बीच अनवरत वितरित करते रहे। जिस व्यक्ति को चक्रवर्ती राजा बनना था, उस व्यक्ति ने राज-पाट को कन्दुक की तरह ठुकरा दिया और जिन हाथों में शासन का दण्ड होता, उन हाथों ने भिक्षापात्र को वरेण्य माना।

निवृत्ति-मार्ग पर जाने से रोकने के लिए राजा शुद्धोदन ने रूपसियों का जो जाल फैलाया था, उसे काटकर राजकुमार सिद्धार्थ ने ऐसे पथ का अनुसरण किया जो शील का चरमोत्कर्ष था।

सत्यान्वेषण में निकले राजकुमार के अप्रतिम सौन्दर्य से अभिभूत होकर मगध-सम्राट् बिम्बिसार ने उसे प्रवृत्तिपथ पर पुनः लाने का प्रयास किया था; किन्तु मगध-सम्राट् के प्रस्ताव एवं प्रलोभन

उसके निर्वाणपथ की ओर बढ़ते चरण को रोक नहीं सके।

कपिलवस्तु का भावी राजा जब कपिलवस्तु पहुँचकर नगर के बाहर वृक्ष के नीचे विश्राम करता है और हाथ में भिक्षापात्र लेकर नगर के प्रथम घर के सामने मौन खड़ा होता है, तब राजा और प्रजा की उस मनोदशा का वर्णन कर सकना सुकर नहीं है। नौ सौ निनानवे नरों का नृशंस संहार करनेवाले दस्यु-सरदार अंगुलिमाल की ललकार पर भी जिस श्रमण के चरण थमे नहीं, उसी श्रमण के चरण एक वृद्ध, रुग्ण भिक्षु की दुर्गन्धमयी काया की शुश्रूषा के लिए रुक पड़े। तथागत ने

अपने हाथों से उसे नहलाकर स्वच्छ बनाते हुए यह उपदेश दिया— “इस संसार में तथागत का आगमन दीनों को मित्र बनाने के लिए, अरक्षितों की सहायता के लिए, कायिक कष्टों से पीड़ित पुरुषों की शुश्रूषा के लिए, अन्धों को दृष्टि देने के लिए, भ्रमितों को प्रबुद्ध करने के लिए, अनाथों एवं वृद्धों के अधिकारों को समर्थन देने के लिए हुआ है और वे स्वयं ऐसा करके दूसरों के लिए दृष्टान्त प्रस्तुत करना चाहते हैं।”

भगवान् बुद्ध ने आजीवन सामाजिक समता के सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने बारम्बार

[यद्यपि गौतमबुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म को वैदिक-धर्म से सर्वथा पृथक् एवं परस्पर अनन्वित मानने की भ्रान्त धारणा फैल चुकी है किन्तु शोधपूर्ण अध्ययन के बाद वास्तविकता इससे बहुत दूर दृष्टिगोचर होती है। बौद्ध साहित्य में भी वैदिक ब्राह्मण परम्परा के प्रति सम्मान के भाव प्रदर्शित हैं। वैदिक एवं बौद्ध धर्म की परम्परा के समन्वय के कुछ स्थल यहाँ प्रस्तुत हैं।

—सं० /

यह शंखनाद किया कि जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जन्म से कोई वृषल (शूद्र) नहीं होता; बल्कि कर्म से, शील से ही कोई ब्राह्मण या वृषल होता है। यहाँ उनके द्वारा प्रतिपादित कुछ ऐसे ही सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जा रहा है, जो पालि भाषा में लिखित त्रिपिटक में निबद्ध हैं। इनमें से कई ऐसे भी सुत्त हैं जो बुद्ध के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के साथ साथ यह भी संदेश देते हैं कि बौद्ध धर्म में कभी सैद्धान्तिक रूप से भी वैदिक मतावलम्बी ब्राह्मणों के साथ असहिष्णुता नहीं थी। भले ही दार्शनिक सिद्धान्तों में विप्रतिपत्तियाँ मौजूद थीं लेकिन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके बीच परस्पर सौहार्द अवश्य था। पालि त्रिपिटक से इसके कुछ उदाहरण यहाँ उपन्यस्त हैं—

सेल-सुत्त : यह मज्झिम निकाय का ६२ वाँ सुत्त है। इस सुत्त के अनुसार एक बार भगवान् बुद्ध जब अंगत्तराप जनपद में विहार कर रहे थे, तब केणिय जटिल नामक ब्राह्मण उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रित करने गए। भगवान् बुद्ध ने बताया कि भिक्षुसंघ बड़ा है, इसमें साढ़े बारह सौ भिक्षु हैं; फिर भी केणिय जटिल ने सबों को भोजन कराने का आग्रह किया। तथागत ने इसे स्वीकार कर लिया।

केणिय जटिल पूरी तन्मयता के साथ १२५० भिक्षुओं का भोजन तैयार करने में सपरिवार व्यस्त हो गए। शैल नामक ब्राह्मण ने इतनी तैयारी देखकर केणिय से पूछा कि घर में कोई विवाह या महायज्ञ है कि इतनी चहल-कदमी है? जटिल ने बताया कि बुद्ध उसके घर भोजन के लिए आ रहे हैं। शैल ने कहा कि 'बुद्ध' शब्द का घोष भी दुर्लभ है और साक्षात् बुद्ध का आगमन असम्भव है, फिर भी उसने कहा कि महापुरुष के बत्तीस लक्षण होते हैं, जिनसे युक्त व्यक्ति ही या तो चक्रवर्ती सम्राट् या बुद्ध होता है।

शैल ने बुद्ध को उस निकष पर परखा और पाया कि श्रमण गौतम में महापुरुषों के बत्तीसों लक्षण विद्यमान हैं। तत्पश्चात् शैल ने तीन सौ ब्राह्मणों के साथ प्रव्रज्या और उपसम्पदा पाई। जब भगवान् बुद्ध केणिय जटिल के आश्रम पर आए, तब जटिल ने उन्हें अतिशय प्रीति के साथ भोजन कराया। तदनन्तर भगवान् बुद्ध ने केणिय जटिल को इन गाथाओं से उपदेश दिया—

यज्ञों में मुख अग्निहोत्र है,
छन्दों में मुख (मुख्य) सावित्री है।
मनुष्यों में मुख राजा है,
नदियों में मुख सागर है।।१।।
नक्षत्रों में मुख चन्द्रमा है,
तपनेवालों में मुख आदित्य है।
इच्छितों में पुण्य है

और यजन (पूजन) करने में मुख संघ है।।२।।

भगवान् बुद्ध केणिय जटिल को इन गाथाओं से अनुमोदित कर प्रस्थान कर गए।

यह गाथा इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भगवान् बुद्ध ने यज्ञों में मुख्य अग्निहोत्र को बताया है तथा मन्त्रों में सर्वोपरि गायत्री मन्त्र को। अग्निहोत्र की श्रेष्ठता को स्वीकार कर भगवान् बुद्ध ने यह स्पष्ट किया है कि जहाँ तक उनके वेद-विरोध का प्रश्न था, वह मात्र उन वैदिक कर्मकाण्डों से था, जिनमें निर्दोष, निरीह पशुओं की निर्मम बलि दी जाती थी। उन्होंने सावित्री यानी गायत्री मन्त्र को मुख्य मन्त्र माना है और इस देश के ब्राह्मण भी प्रारम्भकाल से इसे सर्वश्रेष्ठ मन्त्र के रूप में प्रतिदिन जपते आए हैं। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के वचनों से अग्निहोत्र एवं गायत्री की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

भगवान् बुद्ध का यह वचन राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा सम्पादित एवं अनूदित तथा महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित (सन् १९६४ संस्करण)

‘मज्झिम-निकाय’ के पृष्ठ ३८७ पर उपलब्ध है। चूँकि यह अनुवाद त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन का है; अतः इसमें अर्थान्तर की कोई सम्भावना नहीं है। वैदिक अहिंसक कर्म एवं वैदिक गायत्री मन्त्र के प्रति भगवान् बुद्ध की अतिशय श्रद्धा का प्रतीक है यह ‘सेल-सुत्त’।

सुन्दरिक-भारद्वाज सुत्त : ‘सुन्दरिक-भारद्वाज सुत्त’ ‘संयुक्त-निकाय’ का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुत्त है। एक बार की बात है। कोसल-देश में सुन्दरिक नदी पर भारद्वाज नामक ब्राह्मण हवन कर रहे थे। सुन्दरिक नदी के तट पर यज्ञ करने के कारण उनका नाम सुन्दरिक भारद्वाज पड़ गया था। संयोगवश भगवान् बुद्ध चारिका (विहार) के क्रम में एक वृक्ष के नीचे सिर पर कपड़ा डालकर बैठे हुए थे। भारद्वाज ब्राह्मण ने श्रमण को देखकर यज्ञ का अवशिष्ट अन्न उनको देना चाहा, किन्तु भारद्वाज ने पहले उनकी जाति पूछ दी। इस पर तथागत ने उत्तर दिया— “जाति मत पूछ; आचरण पूछ। काठ से आग पैदा होती है। नीच कुल का पुरुष भी श्रुतिमान्, ज्ञानी, पापरहित मुनि हो सकता है। जो सत्य का आचरण करनेवाला, जितेन्द्रिय और ज्ञान के अन्त को पहुँचा हुआ है और जिसने ब्रह्मचर्यवास समाप्त कर लिया है, वह यज्ञ में उपनीत ही है और वह काल से दक्षिणा देने योग्य है। जो उसे देता है, वह दक्षिणाग्नि में ही हवन करता है।”

भारद्वाज ब्राह्मण को बुद्ध के ये वचन अत्यन्त प्रीतिकर लगे। अतिशय श्रद्धा के साथ उन्होंने यह उद्गार व्यक्त किया— “निश्चय ही यह मेरा यज्ञ सुहुत है, जो ऐसे वेदगू यानी ज्ञानी पुरुष को मैंने देखा। आप जैसे को न देखने से ही दूसरे जन हव्य-शेष खाते हैं। हे गौतम! आप भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं।”

भारद्वाज ब्राह्मण द्वारा बुद्ध की प्रशंसा करना एवं उन्हें ब्राह्मण मानना यह प्रदर्शित करता है कि ब्राह्मण गुण और ज्ञान का सम्मान करना जानते थे।

भारद्वाज को सम्बोधित करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा— “ब्राह्मण! लकड़ी जलाकर शुद्धि मत मानो। यह तो बाहरी चीज है। पण्डित लोग उससे शुद्धि नहीं बताते, जो बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण! मैं दारुदाह (लकड़ी जलाना) छोड़ भीतर की ज्योति जलाता हूँ। नित्य आगवाला, नित्य एकान्त चित्तवाला हो मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ। ब्राह्मण! यह अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुँआ है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्तुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा का दमन करने पर पुरुष को यह ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण! शील तीर्थवाला, सन्तजनों से प्रशंसित, निर्मल धर्मरूपी सरोवर है। (यानी धर्म सरोवर है, शील उसके घाट हैं, सज्जनता जल की निर्मलता है)। इसी में वेद को जाननेवाले (वेदगू) पुरुष नहाकर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। तू ऐसे हवन किए हुएों को नमस्कार कर। मैं उन पुरुषों को संयमी बनाने के लिए सारथी-स्वरूप कहता हूँ।” भगवान् बुद्ध ने इस सुत्त में यज्ञ का कितना सुन्दर रूपक बाँधा है!

मोर जातक : बौद्ध धर्म में ब्राह्मणों के प्रति अतिशय श्रद्धा-भाव प्रदर्शित किया गया है। **मोर जातक** (१५६) में बोधिसत्त्व ने ब्राह्मणों के प्रति नमस्कार निम्नलिखित शब्दों में निवेदित किया है—

ये ब्राह्मणा वेदगु सन्ध धम्मो

ते मे नमो ते च मां पालयन्तु।

नमत्थु बुद्धानं नमत्थु बोधिया

नमो विमुत्तानं नमो विमुत्तिया।।

अर्थात् जो ब्राह्मण सभाधर्मों के ज्ञाता हैं, पारंगत हैं, उन्हें मेरा नमस्कार है; वे मेरी रक्षा करें। बुद्धों को नमस्कार है, विमुक्तों को नमस्कार है और विमुक्ति को नमस्कार है।

ब्रह्मायु-सुत्त : मज्झिम-निकाय का ६१ वाँ सुत्त से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध के प्रति उनके जीवनकाल में ही ब्राह्मणों की अतिशय श्रद्धा थी। एक बार भगवान् बुद्ध विदेह जनपद में विहार

के लिए गए। वहाँ मिथिलानगर में एक १२० वर्षीय 'ब्रह्मायु' नामक विद्वान् रहते थे। वे तीनों वेदों के पारंगत पण्डित तथा अनेक शास्त्रों के निष्णात विद्वान् थे। सामुद्रिक शास्त्र पर अधिकार होने के कारण उन्हें महापुरुषों के लक्षणों की पहचान में प्रवीणता थी।

उनका एक शिष्य था— उत्तर माणवक। उसको बुलाकर ब्रह्मायु पण्डित ने कहा— “तात उत्तर! शाक्यपुत्र श्रमण गौतम विदेह में चारिका कर रहे हैं। उन गौतम का ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है— वे भगवान् अर्हत् हैं..... भगवान् बुद्ध हैं। वे ब्रह्मलोक-सहित ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करते हैं। ऐसे अर्हत्ओं के दर्शन अच्छे होते हैं, अतः जाओ तात उत्तर! जहाँ श्रमण गौतम हैं, वहाँ जाकर जानो कि गौतम का जो यश फैला है, वह यथार्थ है या अयथार्थ? ... तुम्हारे द्वारा हम गौतम को जानेंगे।”

माणवक उत्तर ने प्रश्न किया— “भो! कैसे मैं उन गौतम को जानूँगा कि उनका कीर्ति-शब्द यथार्थ फैला है या अयथार्थ?” ब्रह्मायु ने बताया— “तात उत्तर! हमारे मन्त्रों में बत्तीस महापुरुष-लक्षण आए हैं, जिनसे युक्त पुरुष की दो ही गतियाँ होती हैं। यदि वह घर में रहता है तो चक्रवर्ती राजा होता है और यदि प्रव्रज्या ग्रहण करता है तो अर्हत्, सम्यक्-सम्बुद्ध होता है।”

ब्रह्मायु ने माणवक उत्तर को उन बत्तीस लक्षणों को समझाकर तथागत के पास भेजा। माणवक उत्तर ने सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात् पाया कि तथागत में महापुरुषों में पाए जानेवाले सभी बत्तीस लक्षण विद्यमान हैं। उसने अपने पूज्य गुरु ब्रह्मायु को सब कुछ बताया। ब्रह्मायु यह जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने माणवक उत्तर को तथागत के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि ब्रह्मायु आपके दर्शन चाहते हैं। तथागत ने कहा कि जो समय उन्हें उचित लगे, उस समय वे मिल लें।

तदनन्तर ब्रह्मायु विद्वान् भगवान् बुद्ध से मिलने गए। पूरी परिषद् ने उनका सम्मान किया। ब्रह्मायु ने बुद्ध से अनेक प्रश्न पूछे। भगवान् के उत्तरों से ब्रह्मायु अत्यन्त सन्तुष्ट, प्रसन्न होकर उनके चरणों में नतमस्तक हो गए। पूरी परिषद् विस्मित थी कि श्रमण गौतम की दिव्य शक्ति के सम्मुख ब्रह्मायु विद्वान् नतमस्तक था।

भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मायु विद्वान् से कहा— “अलम्, ब्राह्मण! उठो। अपने आसन पर बैठो। तुम्हारा चित्त मुझमें प्रसन्न है।” तदनन्तर ब्रह्मायु भी बुद्धवचन से अभिभूत हो तथागत के शरणागत उपासक बने। उन्होंने भगवान् बुद्ध को भिक्षुसंघ के साथ अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित किया। भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के साथ ब्रह्मायु के घर भोजन के लिए गए। ब्रह्मायु ने सबों को पूरी प्रीति के साथ भोजन कराया।

भगवान् बुद्ध के विदेह-विहार की अवधि में ही ब्रह्मायु का निधन हो गया। जब उन्हें यह सूचना मिली, तब उन्होंने कहा— “भिक्षुओ! ब्रह्मायु ब्राह्मण पण्डित थे, धर्म के अनुसार चलनेवाले थे। ... भिक्षुओ, ब्रह्मायु देवता हो वहाँ निर्वाण प्राप्त करनेवाले हैं, उस लोक से न लौटकर आनेवाले हैं।”

यह भगवान् बुद्ध की अलौकिक प्रतिभा थी कि ब्रह्मायु-जैसा विद्वान् भी उपासक बना।

चंकि-सुत्त : चंकि-सुत्त 'मज्झिम निकाय' का ६५ वाँ सुत्त है। इसमें भी वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया गया है। इस सुत्त के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि अपने जीवनकाल में ही भगवान् बुद्ध की समाज में अतिशय प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मण समेत समाज का प्रत्येक वर्ग उनके त्याग, उनकी तपस्या से प्रभावित था, अभिभूत था।

एक बार भगवान् बुद्ध कोसल देश में विहार करते हुए ओपसाद नामक ब्राह्मण ग्राम में पहुँचे। राजा प्रसेनजित् के आदेश से चंकि नामक ब्राह्मण

उस ग्राम के स्वामी थे। ओपसाद-वासी ब्राह्मणों को जब यह ज्ञात हुआ कि शाक्यपुत्र श्रमण गौतम ओपसाद से उत्तर शालवन में विहार कर रहे हैं, तब वे झुण्ड-के-झुण्ड उधर जाने लगे। जब चंकि ब्राह्मण ने यह देखा, तब इसका कारण जानना चाहा। भगवान् बुद्ध के आगमन का समाचार सुनकर चंकि ने सन्देश भिजवाया कि अन्य ब्राह्मण थोड़ी प्रतीक्षा करें, क्योंकि चंकि भी उनके साथ तथागत के दर्शन हेतु जाएँगे। किन्तु उन ब्राह्मणों ने चंकि के पास जाकर उन्हें यह समझाने की चेष्टा की कि ग्राम के स्वामी, तीनों वेदों के पण्डित, ब्राह्मणकुल में प्रादुर्भूत, राजा प्रसेनजित् के कृपापात्र चंकि को तथागत के पास नहीं जाना चाहिए, बल्कि तथागत को ही चंकि के द्वार पर आना चाहिए। इस पर चंकि ने उन ब्राह्मणों को यह समझाया कि क्यों गौतम श्रमण के पास उन्हें जाना चाहिए।

चंकि ने कहा— “... श्रमण गौतम बहुत-सा भूमिष्ठ और आकाशस्थ हिरण्य, सुवर्ण छोड़कर प्रव्रजित हुए हैं। श्रमण गौतम... अतितरुण, प्रथम वयस् में ही घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुए। श्रमण गौतम अनिच्छुक माता-पिता को अश्रुमुख रोते हुए छोड़, शिर-दाढ़ी मुँड़ाकर, काषाय-वस्त्र पहन, घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुए। श्रमण गौतम दर्शनीय, ब्रह्म-वर्चस्वी, शीलवान्, कल्याण-वचन बोलनेवाले तथा बहुतों के आचार्य-प्राचार्य हैं। श्रमण गौतम काम-राग-विहीन, प्रपंच-रहित, कर्मवादी, क्रियावादी, ब्राह्मण-सन्तान के निष्पाप अग्रणी हैं। ... श्रमण गौतम को देश के बाहर से, राष्ट्र के बाहर से भी लोग पृच्छने को आते हैं। श्रमण गौतम के, अनेक सहस्र देवता (अपने) प्राणों से शरणागत हुए हैं। श्रमण गौतम का ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द उठा हुआ है। श्रमण गौतम बत्तीस महापुरुष-लक्षणों से युक्त हैं। श्रमण गौतम के यहाँ राजा बिम्बिसार सपरिवार जाते हैं तथा ब्राह्मण पौष्कर-साति भी। सम्प्रति श्रमण गौतम हमारे यहाँ पधारे हुए हैं; अतः

हमारे अतिथि हैं।... अतः हमें ही उनके पास जाना चाहिए।”

चंकि ब्राह्मण की वाणी में भगवान् बुद्ध के प्रति कितनी श्रद्धा कूट-कूटकर भरी हुई है! चंकि ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों के साथ तथागत के पास पहुँचे और शिष्टाचार-सम्पादन के बाद उन्होंने भगवान् बुद्ध से कहा कि वहाँ उपस्थित कापथिक भारद्वाज वैदिक पक्ष को प्रस्तुत करेंगे।

कापथिक भारद्वाज का प्रश्न था कि ब्राह्मणों की इस मान्यता में मन्त्र-पद में वर्णित ज्ञान सत्य है और शेष ज्ञान असत्य। इसमें आप आस्था रखते हैं कि नहीं? तथागत ने प्रतिप्रश्न किया— “ब्राह्मणों में कोई एक आचार्य है, जिसने इसको देखा है?” कापथिक ने उत्तर दिया— “नहीं; हे गौतम!” तब भगवान् बुद्ध ने कहा कि जब इस ज्ञान को किसी ने देखा नहीं, तब यह अन्ध-वेणु-परम्परा यानी अन्धे की लकड़ी के समान है, जिसे किसी (अन्धे) ने नहीं देखा है।

तदनन्तर कापथिक भारद्वाज ने कहा कि ब्राह्मण अनुश्रव में भी आस्था रखते हैं। किन्तु भगवान् बुद्ध ने बताया कि यदि पुरुष को अनुश्रव होता है तो वह ‘यह मेरा अनुभव है’ कहते हुए सत्य की अनुरक्षा करता है, किन्तु इससे सत्य का अनुबोध नहीं होता।”

इस पर कापथिक ने सत्य के अनुबोध का उपाय पूछा। दोनों के बीच वार्ता बढ़ती गई और अन्त में कापथिक ने कहा कि हम सत्य-अनुरक्षण और सत्य-अनुबोध पर आपके विचारों से सन्तुष्ट हैं और ये हमें रुचिकर लगते हैं। अन्त में उन्होंने कहा— “हे गौतम! पहले हम ऐसा जानते थे, कहाँ नीच, काले, ब्रह्म, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न (शूद्र), मुण्डक-श्रमण, और कहाँ धर्म का जानना। आप गौतम ने मुझमें... श्रमण-प्रेम उत्पन्न किया है। आज से आप गौतम मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक धारण करें।”

इस प्रकार, सब तथागत के शरणागत उपासक हो चले।

आदिकवि वाल्मीकि के इतिवृत्त में विविधता

साहित्यवाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव

आदिकवि वाल्मीकि और उनके आदिकाव्य रामायण का काल-निर्धारण अनुमान पर ही आधृत है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने विविध अन्तःसाक्ष्यों और बहिःसाक्ष्यों के आधार पर रामायण को ईसा-पूर्व पंचम शतक से तृतीय शतक के बीच का आदिकाव्य सिद्ध किया है। विशेष ज्ञातव्य के लिए आचार्यश्री का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' द्रष्टव्य है।

भारत के इस आदिकवि के जीवनवृत्त की स्थिति मिथकीय चेतना से आक्रान्त है साथ ही रोचक और रंजक भी है। पौराणिक कथा और लोककथा दोनों का अद्भुत मिश्रण वाल्मीकि के जीवनवृत्त से अनुषक्त है। यहाँ वाल्मीकि के कथा-प्रसंग की विचित्रता के कुछ उदाहरण प्रबुद्ध पाठकों के लिए उपन्यस्त हैं।

पुराणों में भृगुवंश की बड़ी ख्याति रही है। मुनि प्रचेता इसी वंश के इक्कीस मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में अन्यतम थे। महर्षि वाल्मीकि इन्हीं प्रचेता के वंशज थे, अतएव वे वंशानुगत वैदुष्य से सम्पन्न थे, जो रामायण के रचयिता आदिकवि के रूप में विश्वविदित हुए। तमसा नदी (आधुनिक नाम टौंस) के तटपर उनका आश्रम था। तमसा (टौंस) नदी

सात कुलपर्वतों में एक ऋक्षवान् पर्वत से निकलकर गंगा नदी में मिलती है, ऐसा पुराणों में वर्णित है। आधुनिक भूगोलविदों का अनुमान है कि चम्पारन जिलान्तर्गत भैंसालोटन ग्राम में वाल्मीकि का आश्रम अवस्थित था। इसी का आधुनिक नाम सन् १९६४ ई० की १४ जनवरी से 'वाल्मीकिनगर' किया गया है।

कालजयी कृतियों के प्रजापति कवियों के सम्बन्ध में यह विडम्बना ही कही जा सकती है कि उनके व्यक्तिगत जीवनवृत्त के सम्बन्ध में हम बहुधा मतवादों से घिरे तथ्य ही संकलित कर पाते हैं। प्रतीत होता है कि वे अपनी कृति के अनुरूप ही देश काल एवं पात्र की सीमा से ऊपर उठकर सर्वव्यापी बन गये हों। आदिकवि वाल्मीकि भी इसी कोटि के हैं। उनके इतिवृत्त के विविध पक्षों पर यह आलेख प्रकाश डालता है।

—सं०

वाल्मीकि कृत् 'रामायण' के अनुसार कथा है कि एक दिन एक व्याध ने काममोहित क्रौंच पक्षी के जोड़े में से क्रौंच को मार दिया। वाल्मीकि मुनि क्रौंची के करुण विलाप से इतने मर्माहत हुए कि उनका शोकोद्गार उनके मुख से श्लोक बनकर फूट पड़ा, जो वैदिकेतर

लौकिक छन्दों का प्रथम उदाहरण था। इसी आदिकविता से वाल्मीकि आदिकवि कहलाए। श्लोक इस प्रकार है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

(रामायण : १.२.१५)

अर्थात्, है व्याध! तुझे कदापि शान्ति न मिले; क्योंकि तूने क्रौंच के जोड़े में से क्रौंच की हत्या कर डाली, जो क्रौंची के साथ काम-मोहित हो रहा था।

कवि वाल्मीकि के मुख से निकला यह छन्द विशुद्ध वार्णिक 'अनुष्टुप्' छन्द था। यह छन्द उन्हें इतना पसन्द आया कि उन्होंने अधिकतर इसी छन्द में पूरे, रामायण-जैसे आदिमहाकाव्य की रचना की। यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र अनुष्टुप् से इतर छन्दों की भी रचना की है, तथापि वह अवलेह मात्र ही मान्य है।

महर्षि व्यास ने 'बृहद्धर्मपुराण' में उनकी तथा उनके इस महाकाव्य की प्रशंसा की है। 'स्कन्दपुराण' से ज्ञात होता है कि महर्षि वाल्मीकि ने दिव्यज्ञान के प्रभाव से रामावतार से पूर्व ही रामायण की रचना की थी। दुर्मुख नाम के अपने गुप्तचर से सीता के सम्बन्ध में लोकापवाद सुनकर राम ने उन्हें वनवास की आज्ञा दी थी। वनवास-काल में वाल्मीकि मुनि ने ही सीता को अपने आश्रम में शरण दी थी। उसी आश्रम में उन्होंने राम के यमज पुत्रों को जन्म दिया, जिनके लव और कुश नाम वाल्मीकिजी ने ही रखे थे। और जिन्हें पूरी रामायण कण्ठाग्र कराई थी।

वाल्मीकि के सन्दर्भ में यह इतिवृत्त प्रसिद्ध है कि पूर्वकाल में सुमति नाम के एक भृगुवंशी ब्राह्मण थे, जिनकी पत्नी कौशिक वंश की कन्या थी। उसके गर्भ से अग्निशर्मा नामक एक पुत्र हुआ, जो पिता के कहने पर भी वेदाभ्यास से उदासीन रहता था। एक बार देश में अकाल पड़ा तो सुमति ब्राह्मण का परिवार विदिशा के वन में जाकर रहने लगा। वन में रहनेवाले अग्निशर्मा की संगति डाकूओं से हो गई और वह एक प्रसिद्ध डाकू तथा लुटेरा बन गया।

एक दिन सप्तर्षि-मण्डल के सदस्य विदिशा-वन से गुजर रहे थे कि अग्निशर्मा ने उन्हें घेर लिया। इन ऋषियों में अत्रि मुनि ने अग्निशर्मा को दुष्कर्म से दूर रहने के लिए प्रबोधित किया। अत्रि ऋषि से

ज्ञान प्राप्त कर इसने तेरह वर्षों तक ऋषि के ही आदेशानुसार राम-नाम जपकर सिद्धि प्राप्त की। तेरह वर्षों के बाद सप्तर्षि-मण्डल के सदस्य पुनः विदिशा-वन आए और अग्निशर्मा पर जमी बाँबी (वल्मीक) देखकर इससे बोले- "तुम दीर्घ काल तक वल्मीक में बैठे रहे, अतः तुम 'वाल्मीकि' नाम से प्रख्यात होओगे।"

प्रसंगवश ज्ञातव्य है कि पश्चिमी चम्पारन जिले के भैंसा लोटन ग्राम के निकट ही वाल्मीकि का आश्रम विद्यमान है। नेपाल देश के 'त्रिवेणी' नामक स्थान में वाल्मीकि की जन्म तिथि (जयन्ती) प्रतिवर्ष १४ जनवरी को मनाने की प्रथा चली आ रही है।

इसी वृत्त से मिलता-जुलता, वाल्मीकि मुनि का एक और वृत्त इस प्रकार है-

आदिकवि वाल्मीकि जन्मना ब्राह्मण थे, परन्तु इनका आचरण ब्राह्मणोचित नहीं था, इसलिए माता-पिता ने इनका परित्याग कर दिया। वन में भटकते समय इनकी संगति चोरों से हुई, जिन्होंने इन्हें चोरी करना सिखाया। ये वन में मुसाफिरों को लूटकर अपनी जीविका चलाते थे। एक बार सप्तर्षि उस वन से होकर जा रहे थे। वाल्मीकि उनको लूटने के लिए तैयार हो गए। ऋषियों ने पूछा- "तुम जिनके लिए लूट-मार कर रहे हो, वे क्या इस पाप के भागी होंगे?" वाल्मीकि इस प्रश्न से घबरा गए। तब ऋषियों ने इनसे कहा- 'घर जाकर अपनी पत्नी और बच्चों से पूछकर आओ।' इन्होंने सोचा- ये ऋषि भागने का बहाना तो नहीं कर रहे हैं। यह सोचकर इन्होंने ऋषियों को पेड़ से बाँध दिया और घर जाकर अपनी पत्नी और बच्चों से ऋषियों के प्रश्न को दुहराया। उन्होंने कहा- 'हम सब आपके द्वारा लाए गए धन के भागी हैं, उस कार्य से होनेवाले पाप के भागी हम नहीं हैं।' पत्नी और

बच्चों के इस उत्तर से इनका हृदय परिवर्तित हो गया।

वाल्मीकि लौटकर ऋषियों के पास पहुँचे। उन्हें बन्धन से मुक्त किया और उनके पैरों पर गिरकर उनसे क्षमा माँगी और पाप से छूटने का उपाय पूछा। ऋषियों ने इन अनपढ़ डाकू वाल्मीकि को दो पेड़ों के बीच बैठकर 'राम-राम' जपने को कहा। किन्तु अपने दुष्ट संस्कारवश राम, शब्द के उच्चारण में असमर्थ थे। तब ऋषियों ने इन्हें 'राम' का उलटा 'मरा-मरा' जपने को कहा। जप करते-करते इनका संस्कार शुद्ध हो गया 'मरा' उच्चारण 'राम' में परिवर्तित हो गया। जमीन पर एक आसन से वर्षों 'राम-राम' जपते रहे और इनका पूरा शरीर दीमकों से बनाई गई बाँबी (वल्मीक) में बदल गया।

वे ऋषि पुनः वहाँ आए और उन्होंने इनको वल्मीक से बाहर निकाला। तभी से ये 'वाल्मीकि' (वल्मीक से उत्पन्न) कहलाने लगे और ब्रह्मज्ञान पाकर मान्य महर्षि हो गए।

महर्षि वाल्मीकि तमसा नदी पर आश्रम बनाकर अपने शिष्यों के साथ रहते थे। यहीं इन्होंने रामायण की रचना की। वाल्मीकि-आश्रम में ही राम द्वारा परित्यक्त सीता रहीं और वहीं उन्होंने अपने दो पुत्र लव और कुश (वाल्मीकि-कृत नाम) को जन्म दिया। सीता की चरित्र-शुद्धि के विचार से महर्षि वाल्मीकि उन्हें अयोध्या ले गए, जहाँ उन्होंने दुबारा अपनी पवित्रता सिद्ध की और वहीं वे भूमि में समा गईं। वे धरती की बेटी थीं और माँ धरती ने उन्हें अपने आगोश में समेट लिया।

वाल्मीकि मुनि ने अपनी रामायण में इस प्रसंग का अतिशय मर्मस्पर्शी रूपांकन इस प्रकार किया है—

यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्यं रामात् परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत् तद्भुतम्।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम्।।
ध्रियमाणशिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः।।
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम्।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत्।।
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम्।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत्।।
साधुकारश्च सुमहान् देवानां सहसोत्थितः।
साधु साध्विति वै सीते यस्यास्ते शीलमीदृशम्।।

(रामायण : ७.६७.१६-२१)

अर्थात्, सीता कहती हैं— 'राम से इतर किसी पुरुष को मैं नहीं जानती। मेरी यह बात यदि सत्य हो तो हे पृथ्वि! मुझे अपनी गोद में स्थान दो।'

सीता के इस प्रकार शपथ करते ही धरती से एक अतिशय सुन्दर अद्भुत दिव्य सिंहासन प्रकट हुआ।

दिव्य रत्नों से विभूषित दिव्य रूपधारी महापराक्रमी नागों ने इस दिव्य सिंहासन को सिर पर धारण कर रखा था।

सिंहासन के साथ ही दिव्यरूप धारण किए हुए पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी प्रकट हुईं। उन्होंने सीता को अपनी दोनों भुजाओं से गोद में ले लिया और स्वागतपूर्वक उनका अभिनन्दन करके उन्हें इस दिव्य सिंहासन पर बैठा दिया।

सिंहासन पर आसीन सीता जब पृथ्वी की छठी भूमि रसातल में प्रवेश करने लगी, तब देवता उन्हें आदरपूर्वक देखते हुए उनपर लगातार दिव्य फूल बरसाते रहे।

देवताओं के मुख से सहसा 'धन्य-धन्य', 'साधु-साधु' शब्द निकलने लगे। वे कहने लगे— सीते! तुम धन्य हो! धन्य हो! तुम्हारा शील-स्वभाव परम उज्वल और उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय है।

स्कन्दपुराण के अवन्ती-खण्ड के उल्लेखानुसार, महर्षि वाल्मीकि जब डाकू थे, तब इनका नाम 'रत्नाकर' था। क्रौंचवध के शोक से आहत इनके मुख से अकस्मात् जो श्लोक निकल पड़ा, वह अनुष्टुप् छन्द में आबद्ध था। महर्षि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने इनसे रामचरित लिखने को प्रेरित किया। रामायण की अवतारणा इसी प्रेरणा का फल है।

वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक अथवा अवतारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने ही किया, जिसमें लघु-गुरु का निवेश छन्दःशास्त्र के नियमानुसार है। 'श्लोक' शब्द प्रायः अनुष्टुप् छन्द का ही पर्याय है, बाद में विभिन्न वर्णवृत्तों को भी श्लोक कहा जाने लगा।

महाकवि कालिदास ने लिखा है कि वाल्मीकि मुनि को क्रौंचवध से जो शोक हुआ, उनके वह मुख से श्लोक बनकर फूट पड़ा 'श्लोकत्वमासाद्यत यस्य शोकः' (रघुवंश)।

श्लोक और शोक का यह समीकरण आनन्दवर्द्धन को भी पसन्द है— 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' (ध्वन्यालोक : १.५)। इस प्रकार शोक-श्लोक का साहित्यिक समीकरण आलोचक वाल्मीकि का महत्त्वपूर्ण तथ्य-संकेत है।

महर्षि वाल्मीकि का पूर्व इतिवृत्त या जीवन-वृत्त भले ही वैविध्य-ग्रस्त हो, पर जब उनकी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो गई, तब उनके सारे पूर्वकर्म भस्मसात् हो गए। गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

ज्ञानग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

(५.३७)

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सभी पूर्वकर्मों को जलाकर भस्म कर डालती है।

दस्यु रत्नाकर या डाकू अग्निशर्मा से महर्षि बने आदिकवि वाल्मीकि की ओर से भारतीय समाज को प्रदत्त आदिकाव्य रामायण-जैसा शाश्वत एवं सारस्वत अवदान अपने-आपमें एक अनुपम निदर्शन है। संघर्ष की आँच में जले बिना 'विदग्ध' साहित्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। आदिकाव्य रामायण अवश्य ही 'विदग्ध' (वैदुष्य-विमण्डित) महत्कृति है। वाल्मीकि-जैसे विदग्ध कलाकार ने अपनी काव्यकला में अपने व्यक्तित्व को विलीन कर उसे कमनीय कला के रूप में प्रतिरूपित किया है, जिससे कृति और कृतिकार दोनों ही एकमेक हो गए हैं।

वाल्मीकि में, मानव में सहज प्राप्य दुर्बलता अवश्य थी, पर इन्होंने अपने वाङ्मय तप से कलापूर्ण कवित्व की वह शक्ति प्राप्त कर ली, जिसका स्तर साधारण मानवता के स्तर से ऊँचा होता है। वाल्मीकि अपनी रामायण में मानो स्वयं को ही जिया है। इन्होंने जिस प्रकार मानवीय दुर्बलता से ऊपर उठकर अपने जीवन को उदात्त और ओजस्वी बनाया था, उसी प्रकार अपनी प्रज्ञापूत तूलिका से रामायण में भी दुर्बल से सबल बने ऐसे उच्चतम आदर्श पात्रों का चरित्रांकन किया, जो न केवल भारतवर्ष के लिए, अपितु समग्र विश्वमानवता के लिए आदरणीय और उदात्त भावना प्रस्तुत करते हैं। निःसन्देह, आदिकवि वाल्मीकि यदि उदात्त चरित्र के प्रतिनिधि हैं तो उनका रामायण महाकाव्य उदात्त शाश्वत सृष्टि की अद्वितीय अन्तर्दृष्टि का विनियोग करता है।

३७, एस० बी० आई० ऑफिसर्स कालोनी,
काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर,
पटना- २०



श्रीनारायण-स्तुति

ॐ अरविन्द मानव

(सृष्टि से पूर्व कमलासनस्थ श्रीब्रह्मदेव को कठिन तपस्या से अपने उद्भवस्रोत पद्मनाभ श्रीनारायण के दर्शन हुए। उस दिव्य दर्शन से आप्लावित उन्होंने शेषशायी श्रीभगवान् की श्रेष्ठ भावमय स्तुति की। प्रस्तुत है, श्रीमद्भागवत-महापुराणान्तर्गत तृतीय स्कन्ध के नवम अध्याय से उद्धृत उसी स्तुति का मूल-सहित पद्यानुवाद।)

शेषनाग की सेज पर, सोए जो भगवान्।
उनकी स्तुति करने लगे, ब्रह्मा जी पा ज्ञान।।

१/६

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि।।१।।

हे प्रभो! आपको जान सका, मैं आज दीर्घ कालानन्तर।
दुर्भाग्य देह धरनेवाले, गति नहीं जान पाते, प्रभुवर!!
आपके अन्यतः वस्तु नहीं, फिर भी जो होता यहाँ विदित।
माया के गुण से क्षोभित हो, आप ही सबों में हो भासित।।

२/६

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन शश्वन्नित्वृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं यन्नाभिपञ्चभवनादहमाविरासम्।।२।।

चित्-शक्ति प्रकाशित रहने से, तुझसे अज्ञान दूर प्रभुवर!
शत अवतारों का बीजरूप, है यह स्वरूप तेरा सुन्दर।।
जिसके इस नाभिकमल से हूँ, मैं हुआ इस समय उत्पादित।
प्रथमतः तुम्हीं ने प्रकट किया, सज्जन पर अनुकम्पा के हित।।

३/६

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपमानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि।।३।।

तेजोमय औ' आनन्द मात्र, या निर्वाधित और भेदरहित।
जो रूप आपका है वह भी, इससे न भिन्न है मेरे हित।।
जगस्रष्टा होकर भी अतीत, जो अद्वितीय है, हे भगवन्!
भूतेन्द्रिय के आश्रय स्वरूप, इसकी ही हूँ मैं आज शरण।।

४/६

तद्वा इदं भुवनमङ्गल-मङ्गलाय ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः।।४।।

हे त्रिभुवन-मंगल! मैं तो हूँ, आपका उपासक इस कारण।
हित करने को ही दिए मुझे, अपने स्वरूप के शुभ दर्शन।।
कर सकें निरादर वही मात्र, जो पापी विषयाकर्षित मन।
मैं तो बस इसी रूप का ही, हे प्रभु! करता फिर-फिर वन्दन।।

५ / ६

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम्।।५।।
तेरे पदपद्म-पराग-गन्ध, जो वेदवायु लाती पावन।
जो मानव इसको श्रद्धा से, निज कर्णपुटों से करें ग्रहण।।
उन भक्तों के हृत्कमलों से, हो सकें न कभी विलग भगवन्!
बाँधते चरणकमलों को वे, दे पराभक्ति का दृढ़ बन्धन।।

६ / ६

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः।।६।।
प्रभु! तेरे चरणसरोजों का, नर करे न जब तक शरण-ग्रहण।
तब तक ही उसको गेह और निज स्वजन बन्धुओं के कारण।।
भय, शोक, लालसा, दैन्य, लोभ करते रहते पीड़ित हर क्षण।
औ' असत् दुराग्रह 'मैं-मेरा', जो दुख का एकमात्र कारण।।

७ / ६

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात् सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्।।७।।
निःशेष अमंगल का नाशक, तेरे प्रसंग का श्रवण भजन।
इससे इन्द्रियाँ हटाकर जो, होते हैं दीन मनुज, भगवन्!!
वे विषय-सुखों के लिए मात्र, रहते मन-ही-मन लालायित।
नित निरत रहें दुष्कर्मों में, उनकी है बुद्धि दैव से हत।।

८ / ६

क्षुत्तृत्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्चमानाः शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे।।८।।
हे अच्युत, क्षुधा तृषा वर्षा, शीतातप वायु त्रिधातु-ग्रसित।
कामाग्नि असह्य क्रोध से भी, या होते आपस में पीड़ित।।
हे प्रभो! देखना प्रजा सकल, बहु कष्ट उठाते ही क्षण-क्षण।
हे ईश! उरुक्रम होता है, अति खिन्न इसी से मेरा मन।।

९ / ६

यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थमायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था।।९।।
इन्द्रिय औ' विषय रूपवाले, मायाप्रभाव से ही जब तक।
अपने को पुरुष मानता है, हे करुणामय! आपसे पृथक्।

भवचक्र न तब तक हो निवृत्त, यह वृथा मृषा भी होने पर।
है क्षेत्र कर्मफल भोगों का, बहु भाँति दुःख देता, प्रभुवर!!

१० / ६

अहन्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहृतार्थरचना ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥१०॥

दिनचर्या में विक्षिप्त चित्त, निशि में निद्रा में लीन गहन।
उसमें भी क्षण-क्षण नींद खुले, बहु-बहु मनोरथों के कारण।
जो अर्थ सिद्धि हित कृतप्रयास, दैवात् विफल हों सब भगवन्!
मुनि भी यदि तेरे कथाविमुख, तो पाते हैं जग का बन्धन।

११ / ६

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्विद्या त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥११॥

हे नाथ! आपका मार्ग ज्ञेय, कर श्रवण गुणों का ही केवल।
रहते हो भक्ति योग से ही, परिशुद्ध भक्त के हृदयकमल।
हे पुण्यकीर्ति! जिन भावों से, भक्तजन करें तेरा चिन्तन।
कर कृपा उन्हीं सत्पुरुषों पर, करते हो धारण वैसा तन।

१२ / ६

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारैराराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥१२॥

बहु-बहु पूजन-सामग्री ले, बहु-बहु अभिलाषा पूरित चित।
होते न आप उतने प्रसन्न, देवों से भी हो आराधित।
जितना इस जग के जीवों पर, करने से दया प्रसन्न परम।
जो दुर्लभ असत मानवों को, इस जग में है, हे पुरुषोत्तम!!
सर्वान्तः में व्याप्त हैं, सुहृद् आप भगवान्!
सब जीवों का आप ही, करते शुभ कल्याण।

१३ / ६

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च।
आराधनं भगवत्स्तव सत्क्रियार्थो धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्घ्नियते न यत्र ॥१३॥

वह कर्म न नष्ट कभी हो प्रभु! जो होता है तुझको अर्पित।
तप कठिन दान व्रत यज्ञों से, तेरी प्रसन्नता ही वांछित।
कर्मफल यही है सर्वश्रेष्ठ, नर को जिसके पा लेने पर।
फल कौन अन्य है लोकों में, जो सुलभ न हो जाता, प्रभुवर!!

(क्रमशः)

श्रीराधाकृष्ण ठाकुरबाड़ी,
सामस, बरबीघा,
शेखपुरा।



कठोपनिषद् में नचिकेता के तीन वर

डा० रामविलास चौधरी

विश्व के प्राचीनतम साहित्यों में वैदिक साहित्य की गणना की जाती है। वैदिक साहित्य का आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद है, जिसे ऋक् संहिता भी कहते हैं। अन्य तीन संहिताएँ हैं— यजुःसंहिता, सामसंहिता और अथर्वसंहिता। इन्हें क्रमशः यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से जाना जाता है। संहिता का अर्थ संकलन या संग्रह भी होता है। इनमें मन्त्रों का संकलन होने के कारण ये ग्रन्थ संहिता कहे जाते हैं।

मन्त्रों की व्याख्या दो रूपों में की गई है— कर्मकाण्ड के रूप में और ज्ञानकाण्ड के रूप में। लौकिक या कर्मकाण्ड (यज्ञ, विवाह आदि) परक व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है, जबकि इन मन्त्रों के पारलौकिक या आध्यात्मिक विश्लेषण के लिए उपनिषद् ग्रन्थ रचे गए। 'उपनिषद्' का अर्थ ब्रह्मविद्या या अध्यात्मविद्या है। यह विद्या गुरु द्वारा अधिकारी शिष्य को एकान्त में दी जाती थी। अतः इसे रहस्य विद्या या गुह्य विद्या भी कहा गया है। प्राचीन एवं प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभिन्नता होने पर भी शंकराचार्य द्वारा जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखे गए हैं, उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध है।

शंकराचार्य द्वारा व्याख्यात उपनिषदों में 'कठोपनिषद्' अन्यतम है। 'कृष्णयजुर्वेद' की कठ शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसका नाम 'कठोपनिषद्' पड़ा है। इसमें यमराज और नचिकेता के संवाद के माध्यम से मुख्यतः आत्मतत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ नचिकेता के दृढ़

चरित्र का भी वर्णन किया गया है, जिससे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य का संकल्प यदि सुदृढ़ और निश्चयात्मक हो तथा श्रेष्ठ जनों के वचनों में श्रद्धा एवं विश्वास करके अदम्य उत्साह से प्रयत्न किया जाए तो कठिन-से-कठिन लक्ष्य भी सुलभ हो जाता है। इस गम्भीर विषय को सरल रूप में प्रतिपादित करने के लिए आख्यान

[वेदों में निहित गूढ दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या उपनिषद् ग्रन्थों में हुई है। उपनिषद् शब्द का अर्थ होता है— 'उपदेशक के समीप की गई बैठक'। भारतीय ऋषियों ने इन बैठकों में आत्मा, परमात्मा, जीव, मृत्यु, मृत्यु के बाद जीवन, पुनर्जन्म, लोक-परलोक आदि विषयों पर गहन विवेचन किया है। यजुर्वेद की एक शाखा कृष्णयजुर्वेद की काठक संहिता से सम्बद्ध कठोपनिषद् में मृत्यु के देवता यमराज एवं दृढ़निश्चयी जिज्ञासु बालक नचिकेता के संवाद के माध्यम से मृत्यु के बाद जीवन, आत्मा आदि विषयों पर गम्भीर चिन्तन किया गया है। इसका एक परिचय डा० रामविलास चौधरी की लेखनी से प्रस्तुत है—
—सं०]

(कहानी) शैली अपनाई गई है, जो अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण और बहुत रोचक है।

कठोपनिषद् में एक आख्यान आया है, जो इस प्रकार है—

यज्ञफल के इच्छुक वाजश्रवस ने विश्वजित् नामक यज्ञ किया, जिसमें अपना सब कुछ दान कर दिया जाता है। यज्ञ के अन्त में दक्षिणा रूप में वे वाजश्रवस ऐसी गायें दे रहे थे, जो ठीक से घास भी नहीं खा सकती थीं और दूध देने तथा सन्तान उत्पन्न करने में भी असमर्थ थीं। ऐसी असमर्थ,

बूढ़ी और निष्फल गायों को अपने पिता द्वारा दिए जाते देखकर पुत्र नचिकेता का मन चिन्ता से व्याकुल हो गया। वह सोचने लगा कि ऐसी अनुपयोगी और प्रयोजन-रहित गायों को दक्षिणा बुद्धि से देनेवाला यजमान अनन्द अर्थात् सुखहीन लोक को जाता है। अतः इससे प्राप्त होनेवाले अनिष्ट फल से पिता को बचाना ही मेरे लिए आवश्यक है, चाहे इसके लिए मुझे आत्मबलिदान ही क्यों न करना पड़े।

ऐसा सोचकर नचिकेता अपने पिता के पास जाकर बोला— “हे तात! आप मुझे किस ऋत्विग् (पुरोहित) को दक्षिणा में देंगे?” पिता ने इस कथन को अनसुना कर दिया, किन्तु वह हठी पुत्र कब माननेवाला था। वह बार-बार अपना प्रश्न दुहराने लगा। इससे कुपित होकर पिता ने कह दिया— मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ।”

आज्ञाकारी पुत्र ने पिता के वचन को शिरोधार्य करते हुए पिता से आग्रह करने लगा कि कोई भी सत्यपुरुष अपने वचन को मिथ्या नहीं करता। अनुचित आचरण करने से भी कोई अजर-अमर नहीं होता, क्योंकि जन्म लेना और मृत्यु को प्राप्त करना मनुष्य के लिए अवश्यम्भावी है। अतः आप अपने सत्य का पालन कीजिए। अर्थात् मुझे यमराज के पास भेज दीजिए।

अपने वचन के प्रति विवश पिता ने तपस्या के बल पर पुत्र को यमराज के घर भेज दिया। जब नचिकेता यम के घर पहुँचा, तब वे (यम) बाहर गए हुए थे। उनसे मिलने के लिए दृढ़निश्चय नचिकेता तीन रात तक उनके घर बिना कुछ खाए-पीए टिका रहा। प्रवास से लौटने पर यमराज से उनकी भार्या तथा मन्त्रियों ने समझाते हुए कहा कि अतिथि के रूप में साक्षात् अग्नि ही घर में प्रवेश करता है। उस अग्नि के दाह को मानो शान्त करने के लिए ही साधु गृहस्थजन तुरत उसे जल अर्पित करते हैं। जिसके घर में अतिथि बिना भोजन किए रहता है, उसके सभी अभीष्टरूप पुत्र-पशु आदि नष्ट हो जाते हैं। अतः शीघ्र ही अतिथि नचिकेता को प्रसन्न कीजिए।

गृहिणी और मन्त्रियों की बात मानते हुए यमराज नचिकेता के निकट जाकर कहते हैं— “हे ब्राह्मण! तुम्हें नमस्कार हो, मेरा कल्याण हो, तुम

नमस्करणीय अतिथि होकर भी मेरे घर में तीन रात तक बिना भोजन किए रहे। अतः एक-एक रात के लिए एक-एक करके तीन वर मुझसे माँग लो” —

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे

अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु

तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥

(कठोपनिषद् : १.१.६)

यमराज की बात मानकर नचिकेता ने कहा कि हे मृत्यो! आपसे मैं पहला वर यह माँगता हूँ कि मेरे पिता वाजश्रवस मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जाएँ तथा आप मेरे प्रति कृपालु हैं तो निश्चय ही मुझे अपने पिता के पास भेज देंगे। अतः मेरे वहाँ जाने पर वे मुझे पहचानकर मुझसे बातचीत करें।

इसपर यमराज ने कहा कि मुझसे प्रेरित होकर तुम्हारे पिता तुम्हें पूर्ववत् पहचान लेंगे और रात में सुखपूर्वक सोचेंगे, क्योंकि मृत्यु के मुख से तुझे छूटा हुआ देखकर वे अतिशय आनन्द का अनुभव करेंगे।

यम के उत्तर से सन्तुष्ट नचिकेता स्वर्ग का वर्णन करते हुए कहता है कि स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं होता, वहाँ आपका भी वश नहीं चलता। वहाँ भूख-प्यास से ऊपर उठकर मनुष्य आनन्दित होता रहता है, क्योंकि वहाँ रहनेवाले के पास बुढ़ापा भी नहीं आ पाता है—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्च नास्ति

न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।

उभे तीर्त्वाशनायायियासे

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

(कठोपनिषद् : १.१.१२)

आगे नचिकेता कहता है कि ऐसे विशिष्ट स्वर्गलोक की प्राप्ति का साधन जो अग्नि है, उसकी जानकारी आपको है। उस अग्निचयन की विधि को आप मुझे विस्तार से बता दें— यही दूसरा वर मैं आपसे माँगता हूँ।

नचिकेता का कथन सुनकर यमराज ने स्वर्ग-प्राप्ति के आदिकारणभूत उस अग्नि का तथा उसके चयन करने में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं एवं

जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है, उन सब का विस्तार से वर्णन किया। उसे ध्यानपूर्वक सुनकर नचिकेता ने भी यमराज के उस वर्णन को उसी रूप में सुना दिया। इससे प्रसन्न होकर यमराज ने उसे एक और वर देते हुए कहा कि अब यह अग्नि तेरे नाम से ही अर्थात् नचिकेताग्नि के रूप में प्रसिद्ध होगी। इसे ठीक से जान लेनेवाला व्यक्ति भी शरीरत्याग से पूर्व ही मानसिक दुःखों से मुक्त होकर स्वर्ग में, यानी वैराज लोक में आनन्दित होता रहता है।

इसके बाद नचिकेता ने कहा कि कुछ लोगों की धारणा है कि प्राणी की मृत्यु होने पर भी शरीर, इन्द्रिय, मन और बद्धि से अतिरिक्त देहान्तर से सम्बन्ध रखनेवाला आत्मतत्त्व (आत्मा) रहता है। दूसरे लोग इस कथन से सहमत नहीं होते, क्योंकि इसके विषय में हमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता और परम पुरुषार्थ इस विज्ञान के अधीन है। अतः इस विषय में आप मुझे निश्चित तथ्य से अवगत कराएँ; यही मैं तीसरा वर माँगता हूँ—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-

ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं

वराणामेष वरस्तृतीयः।।

(कठोपनिषद् : १.१.२०)

नचिकेता की दृढ़ बुद्धि एवं आत्मज्ञान के प्रति उसकी वचनबद्धता की परीक्षा करने के उद्देश्य से यमराज ने कहा है कि इस विषय में देवताओं को भी सन्देह रहा है, क्योंकि यह सूक्ष्म आत्मा जानने योग्य नहीं है। अतः इसे छोड़कर कोई दूसरा वर माँग लो। नचिकेता जब इसके लिए तैयार नहीं हुआ तब यमराज उसे और भी प्रलोभित करते हुए कहने लगे कि इस वर के बदले तुम सौ वर्ष की आयुवाले बेटे-पोते तथा हाथी, घोड़े, सोना-चाँदी और विशाल पृथ्वी का भाग भी माँग लो एवं स्वयं भी इच्छानुसार जीवन धारण करो अथवा इनके अतिरिक्त मनुष्य में दुर्लभ रमणियों का भोग भी मैं तुम्हें प्राप्त कराता हूँ। किन्तु मृत्युसम्बन्धी प्रश्न मत पूछो।

यमराज की इन बातों को सुनकर नचिकेता अपनी दृढ़ता के साथ चतुराई पूर्वक बोला- मनुष्य को धन से तृप्ति नहीं हो सकती, फिर भी जब मैं आपके पास आ गया हूँ तो मुझे पर्याप्त धन मिल ही जाएगा। जहाँ तक लम्बी आयु की बात है तो जब तक आपका शासन यहाँ है, हम जीवित रहेंगे ही किन्तु मेरा प्रार्थनीय वर तो वही है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो

लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।

जीविष्यामो यावदीशिष्यासि त्वं

वरस्तु मे वरणीयः स एव।।

(कठोपनिषद् : १.१.२७)

नचिकेता की दृढ़ता और अविचल संकल्प को देखकर प्रसन्न यमराज ने उसमें अध्यात्म विद्या के ग्रहण की योग्यता की प्रशंसा की। इसके बाद सर्वप्रथम वे श्रेय और प्रेय का विवेचन करते हुए कहते हैं कि श्रेय (मोक्षमार्ग) और प्रेय (सांसारिक प्रिय वस्तु) दोनों ही परस्पर मिले हुए-से होकर मनुष्य के पास आते हैं। हंस जिस प्रकार पानी से दूध को अलग कर लेता है, उसी प्रकार विवेचनशील व्यक्ति उन श्रेय और प्रेय पदार्थों की अच्छी तरह समालोचना कर उनके गौरव और लाघव का विश्लेषण करता है और प्रेय की अपेक्षा अधिक स्थायी एवं अभीष्ट जानकर श्रेय का ही ग्रहण करता है।

इसके विपरीत जो मन्द या अल्पबुद्धि हैं, वे योग (अलब्ध लाभ की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त लाभ की रक्षा) के चिन्तन में ही लगे रहते हैं। सांसारिक वस्तुओं को, भोग को ही वे सबसे बड़ा लाभ या जीवन का उद्देश्य मानते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति वित्त, पुत्र एवं कलत्र के भोगरूप प्रेय का वरण करते हैं—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-

स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते

प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।

(१.२.२)

नचिकेता द्वारा सांसारिक भोगों के प्रति त्याग की दृढ़ता व्यक्त करने पर यमराज उसकी

विवेचनशीलता की बहुत प्रशंसा करते हैं तथा आत्मज्ञान को अत्यन्त दुर्लभ बताते हैं। ओंकार का उपदेश करते हुए वे कहते हैं कि यह 'ॐ' अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है, यही श्रेष्ठ आलम्बन है, जिसे जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए यम कहते हैं कि यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो किसी अन्य सांसारिक उपादानों से निर्मित है और न स्वतः ही कुछ बना है, क्योंकि उत्पन्न एवं निर्मित पदार्थों में अनेक विकार होते रहते हैं तथा वह अनिल होने से विनष्ट भी होता है। इसके विपरीत यह आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। शाश्वत होने के कारण वह पुराण भी है यानी प्राचीन होकर भी नवीन है। इसलिए शस्त्रादि द्वारा शरीर के मारे जाने पर भी वह नहीं मरता है। अर्थात् शरीर में रहकर भी आकाश के समान निर्लिप्त है—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-

त्रायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

(कठोपनिषद् : १.२.१८)

आगे वे कहते हैं कि जो व्यक्ति इसे मारनेवाला या मारने योग्य समझता है तथा जो इसे मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही आत्मा को नहीं जानते, क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

(कठोपनिषद् : १.२.१९)

इसी तरह का विचार भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भी व्यक्त करते हुए कहा गया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैन्यं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

न जायते म्रियते वा कदाचि-

त्रायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

(२.१६-२०)

वह आत्मा अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर है तथा जीव की हृदयरूप गुहा में स्थित है। वह स्थित होता हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है।

इस प्रकार नचिकेता ने जो तीन वर माँगे, उनमें पहला उसके वैयक्तिक आनन्द के लिए, दूसरा यज्ञकर्ताओं के लिए और तीसरा वर समस्त मानव के आध्यात्मिक तत्त्व की जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए है।

मृत्यु-सम्बन्धी प्रश्न पर चिरकाल से विचार होता रहा है। आज भी ऐसे अवसर मानव-जीवन में आते हैं, जब घोर नास्तिक को भी शरीर से भिन्न उस आत्मतत्त्व की सत्ता की अनुभूति होती है। चाहे-अनचाहे उसपर विश्वास करना पड़ता है, मात्र भ्रम या अन्धविश्वास कह देना आसान नहीं होता।

कठोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन के अनुसरण पर ही गीता के द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा की नित्यता से अवगत कराया है। इसका निष्कर्ष है कि मृत्यु से डरकर अपने कर्तव्य से कभी विमुख नहीं होना चाहिए। आत्मतत्त्व से परिचित व्यक्ति को कभी किसी से भय नहीं होता। ऐसा व्यक्ति भयमुक्त होकर अपने कर्तव्य का पालन करता है।

कठोपनिषद् में तथा अन्य उपनिषदों में भी आत्मा और ब्रह्म में ऐक्य बताया गया है। वह ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप को जान लेनेवाला विद्वान् कभी भयभीत नहीं होता—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।।

प्रोफेसर क्वार्टर,

रानीघाट, पटना-१२



हर हर महादेव

ॐ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस : शिवपुराण और स्कन्दपुराण के अनुसार एक दिन कैलास पर्वत पर सती के साथ भगवान् शंकर बैठे बातचीत कर ही रहे थे कि इतने में सती देखती क्या हैं कि बहुत से देवता विमानों पर चढ़े हँसते, चुहल करते, उड़े चले जा रहे हैं। उनकी समझ में नहीं आ पाया कि ये सब जा कहाँ रहे हैं? इतने में चन्द्रमा को विमान पर जाते देखकर सती ने अपनी सखी विजया से कहा कि चन्द्रमा की प्रिया रोहिणी से पूछो कि ये कहाँ जा रहे हैं? विजया ने लौटकर बताया कि आपके पिताजी जो यज्ञ कर रहे हैं, उसी में ये सब देवता निमन्त्रित होकर जा रहे हैं।

सती को बड़ा कुतूहल और आश्चर्य हुआ कि मेरे पिता यज्ञ कर रहे हैं और उसमें न वे मुझे बुलाएँ और न भगवान् शंकर को, यह कैसे हो सकता है? इसी उधेड़बुन में वे झट शिव के पास जाकर बोलीं— “मेरे पिताजी ने कनखल में यज्ञ ठान रखा है। मैं भी वहाँ उसमें जाना चाहती हूँ। कृपा करके मुझे आज्ञा दे दीजिए।”

शिव ने उन्हें बहुत समझाया कि बिना बुलाए कहीं भी जाना ठीक नहीं। पर सती थीं कि हठ ठान बैठीं। अन्त में शिव ने अपने कुछ गणों के साथ यह समझकर उन्हें भेज दिया कि होनहार किसी के टाले नहीं टल पाती।

जिस समय दक्ष का यज्ञ प्रारम्भ हुआ, उसी समय शिव के परम भक्त महर्षि दधीचि ने बहुत रोषपूर्वक पूछा कि इस यज्ञ में सब अमंगलों का नाश करनेवाले भगवान् शंकर का भाग क्यों नहीं

है? दक्ष को स्वयं जाकर उन्हें बुला लाना चाहिए था या ब्रह्मा-विष्णु को भेजकर उन्हें बुलवाना चाहिए था।” किन्तु दक्ष ने उनकी एक न सुनी और भगवान् शिव को बहुत बुरा-भला कहते हुए बोले— “यज्ञ-स्वरूप विष्णु आ ही गए हैं। वेदों के साथ मेरे पिता ब्रह्माजी यहाँ हैं ही। उस भूत, प्रेत, पिशाचों के स्वामी शिव का भला यहाँ क्या काम?”

दधीचि यह शाप देते हुए उठ खड़े हुए— “यदि यही बात है तो तुम्हारा यह यज्ञ भी नष्ट हो जाएगा।” यह कहकर वे भी वहाँ से उठकर चल दिए और उनके साथ-साथ और उनके साथ-साथ और भी जितने शिव के भक्त थे वे भी उठ-उठकर चलते बने।

उनके चले जाने पर दक्ष ने हँसते हुए कहा— “अच्छा हुआ, सब चले गए। मैं भी यही चाहता था।”

यज्ञ प्रारम्भ हो गया; इसी बीच सती भी शिव के गणों के साथ वहाँ आ पधारीं। उनकी माता ने तो उनका बड़ा स्वागत किया, किन्तु अन्य किसी ने उनसे सीधे मुँह बात न की। यज्ञमण्डप में पहुँचकर सती देखती क्या हैं कि वहाँ शिव का भाग ही नहीं है। यह देखकर तो सती के तन-बदन में आग लग गई। उन्होंने अपने पिता दक्ष को फटकारते हुए कहा— “आप-जैसे शिवद्रोही के शरीर से मेरी उत्पत्ति हुई है, इसलिए अब यह शरीर रक्षा के योग्य नहीं रह गया।” यह कहकर उन्होंने योग की अग्नि से वहीं अपना शरीर भस्म कर लिया।

अब तो वहाँ चारों ओर बड़ा हा-हाकार मच गया। सती के साथ जो शिव के गण आए थे,

उन्होंने यज्ञ को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी भृगु यज्ञ सम्पन्न करने का प्रयत्न करते ही रहे। सती के देहत्याग का समाचार सुनते ही भगवान् शंकर प्रचण्ड रूप से क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपनी जटा उखाड़कर वीरभद्र को उत्पन्न करके आदेश दिया कि जाकर यज्ञ विध्वंस कर आओ और सेवकों-सहित दक्ष को मार डालो। जो भी उनका साथ दें, उनको भी दण्ड दिए बिना न छोड़ना और फिर हरिद्वार में गंगा की नीलधारा के जल में आचमन जा करना।

उधर यज्ञमण्डप में बड़े भारी अपशकुन होने लगे। ध्वजाएँ टूट-टूटकर गिरने लगीं। चारों ओर अँधेरा छाने लगा। धरती काँपने लगी। दिन में ही तारे टूट-टूटकर गिरने लगे। दक्ष ने व्याकुल होकर इन्द्र और बृहस्पति से यज्ञ की रक्षा करने के लिए कहा, किन्तु बृहस्पति ने स्पष्ट कह दिया कि शिव के रुष्ट होने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। यज्ञदेव मृग बनकर जब भाग चले, तब वीरभद्र ने उछलकर उन्हें आकाश में ही जा दबोचकर उनका सिर काट डाला, भृगु की दाढ़ी उखाड़ ली और पूषा के दाँत तोड़ दिए। उधर नन्दीश्वर ने भग के नेत्र निकाल लिए। इतना ही नहीं, वीरभद्र ने दक्ष का सिर मरोड़कर उखाड़कर अग्निकुण्ड में उठा डाला। यह सब करके जब वीरभद्र कैलास पर पहुँचे, तब शिव ने उन्हें अपने गणों का नायक उठा बनाया।

अब तो सबकी सिट्ठी-पिट्ठी गुम हो गई। सब देवता ब्रह्मा को साथ लेकर कैलास जा पहुँचे। शंकर तो आशुतोष ठहरे। वे उन सबकी स्तुति से प्रसन्न होकर उनके साथ ही यज्ञमण्डप पर उठे चले आए और बोले— “भृगु को बकरे की दाढ़ी लगा दी जाए, पूषा पिसा हुआ अन्न खाया करे और भग भी मित्र देवताओं के नेत्रों से देखा करे।”

तब से ब्रह्मा ने नियम बना दिया कि यज्ञ का अवशेष भाग रुद्र का ही हुआ करेगा। भगवान् शंकर ने दक्ष की देह मँगाकर वीर भद्र से पृछा— “इसका सिर कहाँ है?” वीरभद्र ने कहा— “वह तो

मैंने यज्ञपशु के रूप में अग्निकुण्ड में डाल दिया।” तब यज्ञ के पशु बकरे का सिर दक्ष के धड़ पर उठा लगा दिया गया और शिव के स्पर्श करने से वह जी उठा। जब दक्ष ने बड़ी भक्ति से भगवान् शंकर की स्तुति की, तब कहीं उनकी कृपा से उसका यज्ञ पूर्ण हो पाया।

कूर्मपुराण के अनुसार एक बार दक्ष अपनी पुत्री सती से मिलने कैलास जा पहुँचे। उनके आने पर शिव ने उठकर बड़े आदर से उनकी आवभगत की। पर दक्ष को यह रूखा सत्कार अच्छा नहीं लगा। वे चाहते थे कि मुझे बहुत बड़ा अतिथि मानकर बड़ी धूमधाम से मेरा स्वागत किया गया होता। दक्ष की त्यौरियाँ चढ़ गईं और वे बिगड़कर बमक उठे— “तुम्हें न तो छूना चाहिए, न तुम्हारा दिया हुआ कोई पदार्थ ग्रहण करना चाहिए।” वे जैसे आए थे, वैसे ही तिनककर उलटे पाँवों लौट गए।

थोड़े दिनों पीछे जब सती अपने पिता दक्ष के घर गईं, तब दक्ष ने उनको और महादेव को बहुत ऊँच-नीच और बुरा-भला कह डाला— “तू और तेरा पति दोनों बड़े ओछे, गन्दे और मूर्ख हैं। हमारे दूसरे जामाता देखती हो कितने अच्छे भले हैं, पर तुम दोनों ऐसे निकम्मे निकले कि तुम्हारे कारण मुझे पग-पग पर लज्जित होना पड़ता है। इस बार आई तो आई, पर आगे कभी मेरी चौखट मत लाँघना।” यह सुनना था कि देवी के तन-बदन में आग लग गई और उन्होंने दक्ष के देखते-देखते अपना शरीर योग की अग्नि से वहीं भस्म कर डाला।

यह सुनना था कि भगवान् शंकर क्रोध से पैर पटकते लपके हुए दक्ष के पास जा पहुँचे और उसी क्रोध के आवेश में उन्होंने दक्ष को शाप दे दिया— “जाओ, अब तुम्हारा भी यह शरीर नहीं रह पाएगा और तुम्हें क्षत्रिय के कुल में जन्म लेना पड़ेगा, क्योंकि तुम बड़े मूर्ख और घमण्डी हो।” यह शाप देकर महादेव तो कैलास पर्वत पर झपटे लौट गए

और दक्ष निष्प्राण होकर वहीं गिर पड़े। वे ही आगे चलकर मारिषा से प्रचेता के पुत्र दक्ष प्राचेतस या दक्ष प्रजापति हुए। इन्हीं से मानव-सृष्टि का प्रारम्भ हुआ।

वाराहपुराण के अनुसार जब प्रारम्भ में ब्रह्मा ने रुद्र से कहा कि तुम सृष्टि उत्पन्न करो, तब वे सृष्टि करना तो दूर, उलटे तपस्या करने के लिए जा बैठे। तब ब्रह्मा ने स्वयं दक्ष, मरीचि आदि अनेक मानस पुत्र उत्पन्न किए। इनमें से दक्ष ने जो यज्ञ किया, उसमें सभी देवता, ऋषि, मुनि, महर्षि सब बुला लिये गए थे और सबको उसमें अलग-अलग भाग भी दे दिया गया था। तभी अचानक रुद्र भी जल में से बाहर निकल आए। जल से निकलते ही वे देखते क्या हैं कि धरती पर न जाने कितने रंग-ढंग के पेड़-पौधे निकल आए हैं, न जाने कितने पशु और मनुष्य इधर-उधर मनचाहे ढंग से घूम रहे हैं और धरती हरी-भरी हो उठी है। तभी उन्होंने सुना कि कहीं यज्ञ में वेद की ध्वनि हो रही है। बस वे उधर ही बढ़े चले गए।

वे इसी बात पर बिगड़े पड़ रहे थे कि मेरे बिना ये सब उत्पन्न कैसे हो गए। उन्होंने उसी झोंक में ऐसे ऊँचे स्वर में हुंकारा कि उसकी गूँज से अनगिनत भूत, प्रेत, पिशाच, बेताल उत्पन्न हो उठे और अपने हाथों में अस्त्र-शस्त्र लेकर उनके पीछे-पीछे हो लिये। इतना ही नहीं, उन्होंने एक रथ प्रकट कर दिया और उस पर चढ़कर हाथ में गायत्री का धनुष, ओंकार की डोरी और सातों स्वरों के बाण चढ़ाकर उधर की ओर बढ़ चले, जिधर यज्ञ हो रहा था।

उन्हें आते देखकर तो सबके सब देवता कूच कर गए। यह देखकर दक्ष ने सब देवताओं और ऋषियों से कहा— “देखते क्या हो? उठाओ शस्त्र और डट जाओ सामने। हमारे यज्ञ में न तो कोई बाहर का आ ही सकता, न भाग ही ले सकता।”

फिर क्या था? घमासान लड़ाई छिड़ गई। रुद्र ने बाण मारकर भग देवता को अन्धा कर दिया और पूषा के दाँत झाड़ गिराए। देवताओं में भगदड़ मच गई। सब देवता मैदान छोड़-छोड़कर भाग खड़े हुए। इतने में विष्णु भी गरुड पर चढ़कर शिव से लोहा लेने आ पहुँचे। दोनों में भयंकर मारा-मारी हो चली। यह देखकर ब्रह्मा उनके बीच आ खड़े हुए— “आप दोनों यह क्या किए डाल रहे हैं? आप तो दोनों एक ही हैं। आप लोग ऐसा कीजिए कि यह यज्ञ पूरा हो जाए, दक्ष का नाम फैल जाए, भग के नेत्र और पूषा के दाँत फिर ज्यों-के-त्यों हो जाएँ और यज्ञ में रुद्र को भी भाग दिया जाने लगे।”

रुद्र तो आशुतोष ठहरे। देवता जब उनकी बड़ी स्तुति करने लगे, तब वे प्रसन्न हो उठे और उन्होंने कहा— “ठीक है! भग के नेत्र अब देखने लगेंगे, पूषा के भी दाँत पहले जैसे हो जाएँगे और दक्ष का यज्ञ भी पूर्ण हो जाएगा। देखो! मेरी पूजा मुझे पशुपति मानकर जैसे की जाती है, वैसी ही की जाया करे।”

ब्रह्मा ने भी कहा— “संसार में आप पशुपति नाम से ही पूजित होंगे।” यह कहकर उन्होंने दक्ष से कहा— “अब तुम अपनी पुत्री गौरी का विवाह इन रुद्र से कर दो।” गौरी से विवाह करके भगवान् शंकर रुद्र उन्हें लेकर अपने गणों के साथ कैलास लौट गए।

ब्रह्मपुराण के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर में जब भगवान् शंकर मेरु पर्वत की रत्नों से जड़ी हुई चोटी पर पार्वती के साथ बैठे हुए थे, तभी दक्ष ने अपने यहाँ (कनखल में) यज्ञ छेड़ दिया था और सभी देवता उस यज्ञ में भाग लेने वहाँ चले जा रहे थे। पार्वती ने शिव से पूछा— “ये सब देवता किधर चले जा रहे हैं?” शिव ने बता दिया कि ये सब प्रजापति दक्ष के यज्ञ में चले जा रहे हैं। पार्वती ने पूछा— “जब सभी उधर चले जा रहे हैं, तब आप क्यों नहीं चले चलते?” शिव ने समझाया— “देखो! पहले कल्प में जब तुम सती थी, तब तुम्हारे ही

कारण दक्ष का यज्ञ नष्ट हुआ था। उस समय देवताओं ने ऐसा किया कि जो यज्ञ का बचा-खुचा जूठा है, वह मेरे भाग में ला रखा। इसलिए यज्ञ में जाना कोई आवश्यक नहीं है और जो परम्परा चली आ रही हो, उसे तोड़ना नहीं चाहिए।”

पार्वती बोली— “वाह! यह भी कोई बात है? आप महादेव हैं, देवताओं में भी सबसे बड़े। फिर भी यज्ञ में आपका भाग न रखा जाए, यह मैं सहन नहीं कर सकती।” यह कहते-कहते वे क्रोध से लाल हो उठीं। शिव ने समझाया— “यह तुम्हें क्या हो गया है? देवि! मेरे ही लिए तो यज्ञ किया जा रहा है। वहाँ जो वेद के मन्त्र पढ़े जा रहे हैं, उनमें मेरी ही स्तुति तो भरी हुई है।”

पर देवी कहाँ माननेवाली थीं। उनके क्रोध भरे मुख से तत्काल भद्रकाली उत्पन्न हो निकलीं। फिर तो भगवान् शंकर के मुख से भयानक वीरभद्र उत्पन्न हो गए और उन्होंने वीरभद्र को आदेश दिया— “जाकर दक्ष का यज्ञ तो नष्ट कर आओ।” उसने भद्रकाली को साथ लेकर भयानक सिंह का वेश बना लिया। उसके रोएँ-रोएँ से करोड़ों भयंकर भूत, प्रेत, पिशाच उत्पन्न हो उठे। उन सबको साथ लेकर यज्ञमण्डप में पहुँचकर उसने वहाँ आग लगा दी, यूप (यज्ञपशु बाँधने के खूँटे) उखाड़ फेंके, यज्ञ के पात्र चूर-चूरकर डाले, सब यज्ञ की सामग्री इधर-उधर बिखेर फेंकी, यज्ञकुण्डों में मल-मूत्र ले जा भरा, यज्ञदेवता का सिर काटकर उछाल फेंका और बहुत से देवताओं को भी पकड़ चपेटा।

जब दक्ष ने हाथ जोड़कर वीरभद्र से पूछा— “क्या मैं आपका परिचय पा सकता हूँ?” वीरभद्र ने भयंकर रूप से हँसते हुए कहा— “मैं तो रुद्र के क्रोध से उत्पन्न वीरभद्र हूँ और ये पार्वतीजी के क्रोध से उत्पन्न भद्रकाली हैं। हम लोग तुम्हारा यज्ञ नष्ट करने आए हुए हैं। यदि तुम्हें अपने प्राण बचाने हों तो झटपट शिवजी की शरण जा पकड़ो। मेरे आगे हाथ जोड़ने से कुछ मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि दया और कृपा करना मैं जानता ही नहीं।”

फिर तो दक्ष ने बड़े कातर स्वर में भगवान् शंकर को पुकारना प्रारम्भ कर दिया। सुनते ही भगवान् शंकर वहीं आ प्रकट हुए और पूछने लगे— “अब क्या चाहिए?” दक्ष गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगा— “यदि आप सचमुच मुझपर प्रसन्न हैं, तो इस यज्ञ की सब सामग्री पूर्ण हो जाए और मेरा यज्ञ पूर्ण हो जाए।” शिव तो भोले बाबा ठहरे। उन्होंने प्रसन्न मन से वह दे दिया। दक्ष ने फिर शिव की बड़ी स्तुति की और शिव ने प्रसन्न होकर कहा— “अच्छा! अब तुम मेरे ही पास रहा करना।”

शिवपुराण के अनुसार तो सती ने योग की अग्नि से दक्ष के यज्ञमण्डप में ही अपना शरीर भस्म कर डाला था। वायु, मत्स्य, पद्म और कालिका-पुराण के अनुसार सती ने दक्ष के यज्ञ कुण्ड में ही जलकर प्राण दे डाले थे, किन्तु कुछ तन्त्रग्रन्थों के अनुसार सती ने प्राणवायु रोककर ब्रह्मरन्ध्र से प्राण निकाल कर शरीर छोड़ दिया था। यह सुनते ही शिव की आज्ञा से वीरभद्र और शिव के गणों ने तो यज्ञ का विध्वंस कर डाला और भगवान् शंकर सती के शरीर को कन्धे पर उठाए हुए चारों ओर घूमने लगे।

यह देखकर तो सब देवता घबरा उठे और वे ब्रह्मा को साथ लेकर भगवान् विष्णु के पास पहुँच कर बोले— “भगवान् शंकर को किसी प्रकार शान्त कीजिए, नहीं तो प्रलय हो जाएगा।”

भगवान् विष्णु ने अपना सुदर्शन चक्र उठाया और एक-एक करके सती के शरीर के अंग-अंग काट-काटकर गिराने लगे। जहाँ-जहाँ सती के जो अंग गिरे, वहाँ-वहाँ एक-एक शक्तिपीठ बन गया और एक-एक पीठ में देवी का मन्दिर, भगवान् शिव का मन्दिर और गंगा की एक-एक धारा के रूप में एक-एक नदी सवा किलोमीटर के घेरे में बहने लगी।

दलितों के संन्यासी : स्वामी सहजानन्द सरस्वती

ॐ परमानन्द दोषी

स्वामी सहजानन्दजी का संघर्ष जब चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था और जनसमाज की दुर्दशा से मर्माहत स्वामीजी जनचेतना के भाव जन-जन में उत्पन्न करने के लिए जी-जान से प्रयासरत थे, तब उनकी निष्कलुष नीयत, पाक-साफ नजरिया, उनकी विशाल-हृदयता, उनके व्यापक दृष्टिकोण के सभी कायल हो गए थे और सन् १९३८ ई० में 'दलितों के स्वामी' शीर्षक से राष्ट्रकवि दिनकर ने उनकी प्रशस्ति में एक लम्बी-सी कविता रच डाली थी, जो प्रकाशित होते ही काफी लोकप्रिय हुई और उस कविता की लोकप्रियता के साथ-साथ लोगों ने स्वामीजी को और भी प्रशंसा तथा आशाभरी निगाहों से देखना शुरू किया। उस लम्बी कविता की एक पंक्ति थी—

[बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक ओर विदेशी दासता तो दूसरी ओर स्थानीय जमींदारों का शोषण! इस दोहरी मार से घिसी-पिटी जनता में चेतना का संचार करानेवाले कर्मयोगी, संन्यासी सहजानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विवरण प्रस्तुत है—

—सं० /

आया है नव पथ दिखलाने दलितों का संन्यासी।

वास्तव में तब तक स्वामीजी अपने द्वारा सार्वजनिक हित और जन-कल्याण की दिशा में किए गए कार्यों का एक इतिहास बन चुके थे। निःस्वार्थ और अनवरत सेवा का जो उदाहरण स्वामीजी प्रस्तुत कर रहे थे, उससे उनका व्यक्तित्व काफी निखर रहा था। स्वामीजी की दृष्टि में, गांधी जी के शब्दों में हरिजन कही जानेवाली तथाकथित निचली जाति के लोग ही दलित नहीं थे, बल्कि छोटे-छोटे किसान, चाहे वे जिस किसी भी वर्ग और वर्ण के हों, सभी दलित ही थे। भारत के किसान

विदेशी शासकों के उत्पीड़न, उनकी उपेक्षा के शिकार तो थे ही, जमींदारों और सामन्तों का उनपर अलग से आक्रमण-अत्याचार होते रहे थे। दमन, शोषण, दलन-दोहन की दो पाटोंवाली चक्कियों के बीच निरन्तर पीसे जाते रहने के कारण भारतीय किसानों का कचूर निकल रहा था।

स्वामीजी से गरीब किसानों की दयनीय दशा देखी नहीं गई और शास्त्रों, पुराणों तथा अन्यान्य आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त पाण्डित्य और

विद्वत्ता को दिशा देने के लिए सद्ग्रन्थों की रचना, प्रवचनों की व्यवस्था तथा धार्मिक और नैतिकता के

मार्ग पर अभियान करने की अपेक्षा, उन्होंने कृषकों की दशा-दिशा सुधारने के लिए संघर्ष करना अधिक श्रेयस्कर समझा।

आध्यात्मिक-नैतिक प्रवचन, सद्ग्रन्थों का अध्ययन और प्रणयन-जैसे कार्यों को जारी रखते हुए उन्होंने किसानों की ज्वलन्त समस्याओं पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की। स्वामीजी किसानों के बीच स्वयं गए, निकटता से उनके मसलों का जायजा लिया, उन्हें जागरूक और निर्भीक बनाया, उन्हें संगठन से जोड़ा और उनकी खामोश जुबान में ऐसी जादुई आवाज भर देने का काम किया कि दशकों से खामोश बैठे, अपनी स्थितियों-परिस्थितियों से सस्ते समझौते कर लेने को विवश बने किसान देश और समाज में अपनी अवस्थिति का सही आकलन-

अनुमान करने की स्थिति में आने लगे और वर्षों की चुप्पी तोड़, मौन-साधना भंग कर वे अपनी दुर्दशा का खुलेआम इजहार करने को कटिबद्ध हो गए।

बड़े काश्तकारों, जुल्मी जमींदारों और सीधे ब्रिटिश हुकुमरानों और उनके कारिन्दों-कारकूनों से सीधी और खुल्लमखुल्ला टक्कर लेने में भी उन्हें किसी प्रकार की झिझक महसूस नहीं होती।

कृषकों में ऐसी चेतना, ऐसी जागरूकता ऐसा स्वाभिमान, हक के लिए संघर्ष करने की कामना और क्षमता, संगठित होने की प्रबल आकांक्षा के भाव पैदा करने में सहजानन्द सरस्वती की अनुपम-अद्वितीय भूमिका रही है। कृषिप्रधान भारत देश की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था का मेरुदण्ड किसान ही है— वास्तविकता से भरे इस तथ्य को जिस गहराई से स्वामीजी ने समझा और हृदयंगम किया था, उस रूप में उनके अन्य समकालीनों ने उसे समझा सकने की जरूरत नहीं समझी थी।

देश की दुर्दशा से मर्माहत, सुधार के आकांक्षी, आजादी के स्वप्नद्रष्टा, स्वतन्त्रता-संग्राम के सम्बद्ध देश के छोटे-बड़े सभी नेता कृषि और उसके कर्णधार कृषकों की बातें तो बराबर किया करते थे। गांधीजी, नेहरूजी, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, डा० राजेन्द्र प्रसाद-सरीखे मुल्क के सभी बड़े-बड़े रहनुमाओं ने अपने आन्दोलन के क्रम में किसानों से सम्पर्क किया, उनकी समस्याओं को मंचों और अन्य माध्यमों से उजागर किया, मगर किसानों की समस्याएँ उनके मुद्दे में प्रमुख जगह कभी नहीं ले सकीं। उनके अनेक मुद्दों में किसानों का एक अति सामान्य मुद्दा हुआ करता था और किसानों की समस्याओं का कितना समाधान हो पाता है, इसकी खोज-खबर लेने की न तो उन्हें फुर्सत हुआ करती थी और न इसकी वे ज्यादा जरूरत समझे थे।

स्वामीजी में ऐसी बात नहीं थी। उनके कार्यक्रमों की सूची में अव्वल जगह पर किसान और उनके मसायल होते थे। कृषि और कृषकों की खुशहाली-बेहतरी स्वामीजी का अहम् उद्देश्य और

लक्ष्य होता था, अन्य कार्यों का अवान्तर और गौण महत्त्व होता था, उनके सम्मुख। भारतीय किसान और स्वामीजी, मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हों। ये दोनों नाम शब्द पर्यायवाची बन गए थे। किसान चाहे जिस स्तर, जिस जाति, जिस अंचल, जिस हैसियत के हों, सभी समान रूप से स्वामीजी को अत्यन्त ही प्रिय थे। समस्त भारतीय किसानों को स्वामीजी अपना बृहत्तर परिवार कहा करते थे और परिवार के किसी मुखिया को जिस प्रकार अपने आश्रित सदस्यों के योग-क्षेम की चिन्ता होती है, उसी प्रकार स्वामीजी प्रत्येक किसान के योग-क्षेम के लिए चिन्तित रहा करते थे।

भारत भर के किसान, विशेष रूप से उत्तरी भारत के, उन्हें अपना एक मात्र शुभेच्छु, अभिभावक मानते थे और उनके हल्के से संकेत पर कड़े-से-कड़े, बड़े-से-बड़े जोखिम और बलिदान से भरा कोई भी कदम उठाने को सदैव उद्यत रहते थे। स्वामीजी किसानों का जिस कार्य के लिए आह्वान करते थे, किसान उनका फौरी अमल करके अपने मसीहा के आदेशों-अनुदेशों का अक्षरशः पालन करने में हर्ष और सन्तोष का अनुभव करते थे।

स्वामीजी ने किसानों को संगठित करने के लिए सम्पूर्ण देश का अनेक बार दौरा किया। अंचल से लेकर राज्य स्तर पर किसानों के संगठन का निर्माण किया। उन्होंने सम्मेलन आहूत किए, जिनमें स्वयं सम्मिलित होकर प्रेरक अभिभाषण दिए। किसानों के आन्दोलन के सिलसिले में वे कई बार जेल भी गए।

स्वामी जी को अनेक बार जमींदारों की सम्मिलित साजिशों का शिकार होना पड़ा। उनकी सरेआम बेइज्जती की गई, उनकी भर्त्सना की गई, उन्हें धमकियाँ चेतावनियाँ दी गईं, उन्हें लालच-प्रलोभन भी दिया गया, मगर स्वामीजी, कोई नकली या ढोंगी स्वामी नहीं थे। शास्त्रज्ञ, ब्रह्मचारी, आचरण के पक्के, दृढ़व्रती, हाथों में दण्ड ग्रहण करनेवाले सच्चे संन्यासी थे, उन्हें न कभी प्रवंचनाएँ पथ से विचलित कर सकीं। लोभ-प्रलोभन की माया की मरीचिका की परछाई भी उनके पास फटक नहीं

सर्की, उपेक्षा-भर्त्सना, लांछन-यन्त्रणा उनके ध्रुव-पथ से उन्हें डिगा नहीं सकी और किसानोत्थान के अभियान का वह पथिक निभ्रान्त, निर्विघ्न, निर्द्वन्द्व अपने उद्देश्य-मार्ग पर अविचल, अविच्छिन्न चलता रहा, बढ़ता रहा।

अँगरेजों ने अपने शासन-काल में किसानों के हित के लिए कई व्यवस्थाएँ की थीं, देश के आजाद होने पर जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया तथा कृषि और कृषकों के प्रकारान्तर से सभी के पीछे स्वामीजी के द्वारा किए गए आन्दोलनात्मक और सुधारात्मक प्रयासों की भूमिकाएँ ही कार्यरत रही हैं। भारत में कृषक और कृषि की बेहतरी के लिए उठाए गए निर्णयात्मक कदमों में जितना शुभकर और श्रेयस्कर है—सबमें स्वामीजी की प्रेरणाएँ-शुभाशंसाएँ अन्तर्निहित रही हैं।

भारतीय किसानों की समस्त सुख-सुविधाओं, ऐश्वर्य-समृद्धियों के मूल में स्वामीजी के निःस्वार्थ तपश्चर्याओं, उनके निष्ठापूर्ण अनवरत सत्प्रयासों का अत्यधिक अंशदान रहा है। स्वामीजी की जीवन-कहानी किसानों की जीवन-कहानी है। कृषकों का हितचिन्तक, शुभेच्छु, कल्याणकर्ता एक मात्र स्वामीजी थे, वैसा अब तक अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सका है। भारतीय किसानों के इतिहास में स्वामीजी का अवदान स्वर्णिम अश्रुधाराओं के रूप में जुड़ा रहेगा।

कृषकों के पथ-प्रदर्शक, उनके भाग्य-विधाता, मसीहा स्वामीजी का व्यक्तित्व सच्चे अर्थ में बहुआयामी था। स्वाश्रय के सहारे अपने पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण, स्वतन्त्रता के संग्राम में भागीदारी, विभिन्न विषयों, पक्षों, प्रसंगों पर आधारित दर्जनों आर्ष ग्रन्थों का प्रणयन संस्था-संस्थापन, संगठनकार्य, पवित्र और उदात्त आचरण के प्रतीक स्वामीजी का विविध कृतित्व बड़े ही प्रेरक और अनुकरणीय हैं।

सन् १८८६ की शिवरात्रि की पावन घड़ी में उत्तरप्रदेश के गाजीपुर जिलान्तर्गत देवा गाँव में जन्मे स्वामीजी का नाम नवरंग रखा गया था। बचपन में ही उनकी माता का निधन हो गया था। उनका

लालन-पालन उनकी मौसी, जो उनकी चाची भी थीं, के हाथों हुआ था। उनकी पत्नी थोड़े ही दिनों के अन्तर्गत परलोकवासिनी हो गई और स्वामीजी ने दुबारा विवाह नहीं किया। काशी जाकर विद्वानों, सन्तों-मनीषियों के संसर्ग, सत्संग में आर्ष ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया।

चारित्रिक उत्कृष्टता और मानसिक विकास को अपनी मानवीय श्रेष्ठता का आधार मान अपढ़ ब्राह्मणों के वर्चस्व का विरोध करने से भी वे नहीं चुके। देश के लिए आजादी हासिल करने में उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही है। भारत-विभाजन के वे प्रबल विरोधी थे। अनेक आश्रमों, विद्यालयों, शिक्षालयों के संस्थापन-संचालन का श्रेय उन्हें प्राप्त है। पटना जिलान्तर्गत बिहटा का सीताराम आश्रम जैसे आश्रमों में प्रमुख है।

अपने उद्देश्यों के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए पत्र-पत्रिकाओं का भी उन्होंने प्रकाश किया था, जिनमें 'लोक-संग्रह' साप्ताहिक पत्र का विशेष महत्त्व है।

स्वामीजी की लिखी हुई पुस्तकों में प्रमुख हैं—जमींदारी क्यों उठा ली जाय, किसान क्या करें, किसान कैसे हैं, किसानों को फँसाने की तैयारियाँ, झारखण्ड के किसान, खेत मजदूर, क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा, किसान सभा के संस्मरण, भूमिहार ब्राह्मण परिचय, ब्राह्मि वंश विस्तर, महारुद्र का महाताण्डव आदि।

गीता की व्याख्यात्मक टीकावाली उनकी पुस्तक 'गीता-प्रवाह' एक स्थायी महत्त्व का आश्वत ग्रन्थ है। उनकी 'मेरा जीवन-संघर्ष' नाम की आत्मकथा भी प्रकाशित है।

हाथ में दण्ड, गैरिक वस्त्रधारी, ऊपर का उधड़ा बदन, पाँवों में खड़ाऊँ, हृष्ट-पुष्ट दरम्यानी कद, गौर वर्ण के स्वामीजी की आकृति से एक ऐसी तेजो-दीप्ति प्रस्फुटित होती थी, जिससे हर कोई आकृष्ट हो जाता था।

सन् १९०७ में संन्यास ग्रहण कर लेने के बाद स्वामीजी ने संन्यासियोंवाला रूप-स्वरूप तो धारण कर लिया था, मगर जनसमूह से अपना

निकटतापूर्ण सम्पर्क बनाए रखा था। सन् १९२० ई० में वे महात्मा गांधी के सान्निध्य में आकर उनके द्वारा छोड़े गए असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हुए। उसके बाद गांधीजी के प्रायः सभी कार्यक्रमों में वे शरीक रहे। कांग्रेस में होते हुए भी स्वामीजी की अपनी पहचान थी। आँखें मुँदकर बड़े-से-बड़े नेता का अन्धानुकरण करना उन्हें कभी स्वीकार्य नहीं हुआ। दल में उनका झुकाव आम पक्ष की ओर बना रहा था। अपने सिद्धान्तों-आदर्शों के रक्षार्थ स्वामीजी और गांधीजी, नेहरूजी, मौलाना आजाद, सरदार पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसादजी में अक्सर वैचारिक मतभेद हुआ करते थे।

राजनीतिक व्यस्तताओं और संघर्षों के बवण्डरों में भी किसानों को स्वामीजी ने पल भर के लिए अपनी दृष्टिसीमा से कभी ओझल नहीं होने दिया।

सन् १९२७ ई० में पटना किसान सभा और नवम्बर, १९३० ई० में बिहार प्रान्तीय किसान सभा की नींव स्वामीजी ने रखी थी। बाद में उनके संगठन के क्षितिज का उतना विस्तार हुआ कि भारत भर के किसान नतमस्तक हो गए।

बिहार शासी परिषद् के सदस्य श्री गुरु सहाय लाल के साथ मिलकर उन्होंने किसानों के कल्याण और जमींदारी की दिशा में कई महत्वपूर्ण कदम उठाए थे।

पटना जिला के अमहारा गाँव में सन् १९३० ई० में नमक बनाते समय उन्हें प्रथम बार गिरफ्तार किया गया था और छह माह तक जेल के सलाखों के पीछे रहना पड़ा था। उसके बाद विभिन्न आन्दोलनों में अपनी सक्रिय भूमिका और भागीदारी के कारण वे अनेक बार जेलयात्रा करते रहे।

२६ जून, १९५० को मुजफ्फरपुर के अपने एक सहयोगी के घर गए स्वामीजी पर पक्षघात का पहला प्रहार हुआ, जिससे उसी दिन उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

अपने संघर्ष से भरे कर्मसंकुल जीवन के लगभग इकसठ वर्षों की लम्बी अवधि के अन्तर्गत उन्होंने सामान्यतः समस्त भारतवासियों और विशेषतः यहाँ के किसानों की दशा सुधारने की दिशा में जितना कार्य किया है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। युवाशक्तियों की अमित सम्भावनाओं की समुचित पहचान कर कर्मक्षेत्र में सक्रिय हो जाने के लिए अभिनव आह्वान करनेवाले योद्धा स्वामी विवेकानन्द की भाँति ही स्वामी सहजानन्द सरस्वती वीतराग साधु-संन्यासी के वेश में होते हुए भी अपने व्यक्तित्व-कृतित्व में बहुतेरे सद्गुणों को सहेजे हुए थे। वे उन अन्यान्य संन्यासियों-सरीखे नहीं थे, जो जन-समूह से दूरी बनाए रखकर निर्जन स्थानों, गुफाओं, कन्दराओं, वनवीथियों में एकान्त वास करते हुए तन्त्र व योगसाधना में तल्लीन और ध्यानावस्थित रहा करते हैं। स्वामीजी जनप्रवाह में सम्मिलित रहकर सर्व-साधारण की दशा-दिशा सुधारने-सँवारने में आजीवन व्यस्त रहे। विशेष रूप से कृषिकर्म से जुड़े कृषक समाज, जिनकी स्थिति अन्यो से अपेक्षाकृत ज्यादा बदतर थी, उनके उत्थान और कल्याण के क्षेत्र में स्वामीजी की क्रान्तिकारी भूमिका रही है।

उनके माँ-बाप के द्वारा बचपन का उनका रखा नाम— नवरंग राय वास्तव में सार्थक और उपयुक्त था। नामानुसार स्वामीजी का व्यक्तित्व सचमुच नौ गुणोंवाले मेधा, विद्वत्ता, मुल्क-परस्ती, क्रान्तिकारिता, आस्था, लेखन-प्रवचन की अलौकिक क्षमता और वेद-वेदान्त, गीता-महाभारत-जैसे आर्ष ग्रन्थों की पुनर्व्यवस्था से पूर्ण था।

स्वामीजी के स्वर्गारोहरण के पाँच दशकों से अधिक की अवधि गुजर चुकी है, मगर उनकी प्रासंगिकता आज भी अक्षुण्ण है।

बिहार राज्य स० भूमि विकास बैंक,
बुद्ध मार्ग, पटना-१

भारतीय साहित्य में शक्ति की अभिव्यंजना

डा० भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में शक्ति की आराधना लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति का हेतु समझी गई है। गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त कर राष्ट्र की रक्षा के लिए जब आर्य छात्र निकलता था, तब उसकी धारणा थी— मेरे आगे चारों वेद हैं और पीठ पर धनुष-बाण भी। मैं ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति दोनों से शत्रुओं को परास्त कर सकता हूँ, क्योंकि मैं दोनों में प्रवीण हूँ—

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।

इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि।।

वस्तुतः प्राचीन भारत ने इस तथ्य को भली-भाँति समझा था कि ब्राह्मतेज के सहयोग से ही क्षात्रतेज जगत् का कल्याण कर सकता है। राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा के निमित्त आध्यात्मिक और शारीरिक (भौतिक) दोनों प्रकार की शक्तियों के वर्धन की नितान्त आवश्यकता है। ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति में सामंजस्य स्थापित करके ही राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति सम्भव है। इस प्रकार, हमें सत्य, बल, बुद्धि और धन— सभी शक्तियों की उपासना करनी चाहिए। परन्तु यह निश्चित है कि परम वैभवशाली राष्ट्र की रक्षा भी शक्ति के बिना असम्भव है—

शस्त्रेण रक्षिते देशे शास्त्रचर्या प्रवर्तते।

अर्थात् शास्त्रों से रक्षित देश में ही शास्त्रों की चर्चा हो सकती है।

प्राचीन भारतीय मनीषा ने राष्ट्र की रक्षा के लिए शक्ति की अनिवार्यता को अपरिहार्य समझा

था। मनु महाराज के कथनानुसार राष्ट्र के अपने अस्त्र-शस्त्र हर समय प्रस्तुत रहने चाहिए—

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।

नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसारिः।।

(मनुस्मृति : ७.१०२)

नित्य सैन्यशिक्षा का अभ्यास करना चाहिए और सदा अपने पौरुष को प्रकट करते रहना चाहिए। इसी प्रकार नित्य अपनी चेष्टा को संवृत रखना चाहिए तथा शत्रु के छिद्र (कमजोरी) पर नजर रखनी चाहिए।

मनुस्मृति के साक्ष्य से ही जो राष्ट्र शस्त्रबल से सुदृढ़ रहता है, शस्त्रशक्ति से सन्नद्ध रहता है, उससे समस्त संसार काँपता है—

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत्।।

(मनुस्मृति : ७.१०३)

अर्थात् जो राष्ट्र दण्ड (बल) के प्रति नित्य उद्यत रहता है, उससे सारा जगत् उद्वेलित रहता है। इसलिए सभी को दण्डशक्ति से ही वश में करना चाहिए।

संसार शक्ति की भाषा समझता है। विजयश्री शक्तिशाली का ही वरण करती है। शक्ति की उपासना परमेश्वर का वरदान है। परम पिता परमात्मा सत्य हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, न्यायकारी हैं, शक्तिशाली हैं। सर्वशक्ति-संपन्नता उनका गुणधर्म है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने बाहु ऊर्ध्व करके ललकारकर कहा— ‘यदि हम उनकी कृपादृष्टि चाहते

हैं तो सबसे पहले आगे बढ़कर शक्ति की उपासना करें। शक्तिशाली बनें।'

उपनिषदों के अनुसार, दुर्बल व्यक्ति को परमात्मा का भक्त कहलाने का कोई अधिकार नहीं है— 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' वे ही राष्ट्र और समाज इतिहास के पन्नों में अमर हैं, जिन्होंने शक्ति की आराधना की। इसीलिए नीतिकारों का उपदेश है— 'वीरभोग्या वसुन्धरा' अर्थात् शक्तिशाली ही धरती पर शासन करते हैं। विजय, शक्ति और पराक्रम की प्राप्ति वैदिक वाङ्मय का उपदेश है। उन महर्षियों की कामना थी कि विश्वगगन में हमारे राष्ट्रध्वज शान से फहराते रहें। हमारे नागरिक बलशाली हों। हमारे अमोघ बाण विजय प्राप्त करते रहें। देवगण विजय दिलाते रहें—

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेषु

अस्माकं या इषवः ता जयन्तु।

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त

अस्मां इ देवा अवताहवेषु।।

(ऋग्वेद : १०.१०३.११)

एक अन्य मन्त्र में ऋषि की मनोवांछा है कि 'जो हमसे द्वेष करता है, जो सेना भेजकर आक्रमण करता है, जो हमारा वध करना चाहता है अथवा जो हमें परतन्त्र करना चाहता है, अपनी शक्ति से उसका विनाश कर दें—

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्यादः।

यो अभिदासान्मनसा यो वधेन।

तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्विरि।।

मार्कण्डेय-पुराण के अन्तर्गत दुर्गा-सप्तशती में ऋषि ने वरदायिनी शत्रुनाशिनी शक्ति की अधिष्ठात्री देवी माँ दुर्गा से प्रार्थना की है कि हे माता! आपने शत्रुओं का नाश कर लोकों की रक्षा की है। उन शत्रुओं को युद्धभूमि में परास्त किया है। उन्मत्त दैत्यों से होनेवाले भय को दूर किया है। आपको

हमारा नमस्कार है। देवि! शूल और खड्ग से हमारी रक्षा करें। घण्टा और धनुष की टंकार से हमलोगों की रक्षा करें। चण्डिके! पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में हमारी रक्षा करें। त्रिशूल घुमाकर उत्तर दिशा में भी हमारी रक्षा करें। तीनों लोकों में आपके जो परम सुन्दर एवं अत्यन्त भयंकर रूप विचरते रहते हैं, उनके द्वारा भी भूलोक की रक्षा करें। करपल्लवों में शोभित खड्ग, शूल और गदा आदि अस्त्रों से हमारी रक्षा करें—

शूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके।

घण्टास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च।।

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च चण्डिके रक्ष दक्षिणे।

भ्रामेणात्मशूलस्य उतरस्यां तथेश्वरि।।

सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।

यानि चात्यर्थघोराणि तैरक्षास्मांस्तथा भुवम्।।

खड्गशूलगदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके।

करपल्लवसंगीनि तैरस्मान् रक्ष सर्वतः।।

(दुर्गा-सप्तशती : ४.२४-२७)

शक्ति से अनुप्राणित होकर ही सुग्रीव ने ऐसा ठान लिया—

देखि अमित बल बाढी प्रीती।

बालि बधब इन्ह भइ परतीती।।

(मानस : ४.१३)

राम ने जब बिना परिश्रम किए ही ताड़ के पेड़ों को एक ही बाण से बींध गिराए तथा राक्षस की हड्डियों के ढेर को पैर के अँगूठे से ढाह दिया, तब उनकी अपार शक्ति पर विश्वास कर सुग्रीव के हृदय में और भी प्रीति बढ़ गई। प्रभु की शक्ति को पहचानकर सुग्रीव ने उनके चरणों में सिर नवाया।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम शक्ति के अनन्य उपासक थे। अपनी इस शक्ति के आधार पर एक ओर उन्होंने जहाँ सत्यान्वेषी ऋषि-मुनियों को निर्भयता प्रदान की, वहीं दूसरी ओर आसुरी प्रवृत्तियों के

समूलोच्छेद के लिए कृतसंकल्प होकर दुष्टों का दलन करने लगे। शक्ति पर अटूट विश्वास रखनेवाले राम जब सीता की प्राप्ति हेतु लंका की ओर ससैन्य अग्रसर होते हैं, पर हिन्द महासागर की उत्ताल तरंगों मार्ग रोककर खड़ी हो जाती हैं, उस समय के उनके पुरुषार्थ और शक्ति का उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ओजस्वी स्वर में कहते हैं—

तीन दिवस तक पन्थ माँगते रघुपति सिन्धु किनारे,
बैठे पढ़ते रहे छन्द अनुनय के प्यारे-प्यारे।
उत्तर में जब एक नाद भी उठा नहीं सागर से,
उठी घघक तेज पौरुष की आग राम के शर से।।

और तब शक्ति की प्रचण्ड अग्नि समुद्र को तप्त कर विजय का रास्ता बना देती है। इस घटना का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए पुनः दिनकरजी घोषणा करते हैं—

सच पूछो तो शर में ही बसती है दीप्ति विनय की।
सन्धि-वचन-सम्पूज्य उसी का जिसमें शक्ति विजय की।।

बाद में राम-रावण का युद्ध होता है। राम के पक्ष में सत्य था, न्याय था, चरित्र था, पर इन सबके होते हुए भी यदि उनकी दुर्दमनीय शक्ति रावण-जैसे दुष्ट का वधकर उसकी सारी सेना को कुचल देने में समर्थ न होती तो राम का यश कदाचित् संसार के सामने न आता। पुनः दिनकरजी कहते हैं—

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या? जो दन्तहीन विषहीन विनीत सरल हो।।

देवी-दैत्य संग्राम से सम्बद्ध ये पंक्तियाँ कितनी अनुप्राणित करती हैं—

क्षणभर को हो गये शत्रु सब किंकर्तव्य विमूढ़,
समझे कौन महामाया की माया गर्भित गूढ़?

काम रूप घन पर बिजली-सी साहस सिंहारूढ़,
टूट पड़ी दैत्यों पर दुर्गा अपने बल से व्यूढ़।

झुलस गई असुरों की आँखें उनको निकट निहार,
आँख मूँदकर तब ये मानों करने लगे प्रहार।

शक्ति एक थी, गण अगणित थे, झुके झुण्ड के झुण्ड,
उधर असुरगण भी असंख्य थे भीषण विकृत वितुण्ड।

हुंकारित होते थे मानो कटकर भी अरिमुण्ड,
अपनों को भी मार रहे थे अन्धे होकर रुण्ड।

प्रकृत विकृत रिपु द्विगुण विकृत थे होकर रण में क्रुद्ध,
हँस-हँस लीलामयी सकौतुक करने लगी सुयुद्ध।।

पुनः शक्ति सांघातिक दुर्गा की उत्पत्ति से एकता को पुष्ट-करती ये पंक्तियाँ कितनी समीचीन हैं—

संघ-शक्ति ही कलि दैत्यों का मेटेगी आतंक,
इतना कहते-कहते हरि की हुई भूकुटि कुछ वंक।
कृपा है कि यह कोप? काल यों जब तक हुआ सशंक,
निकला तब तक उनके तनु से तेज एक अकलंक।
ब्रह्म, रुद्र, इन्द्रादि सुरों के तनु से भी तत्काल-
निकले ज्योतिपुंज और सब मिले उसी में हाल।।

समग्र भारतीय साहित्य शक्ति की महिमा से गुंजित है। वस्तुतः साहित्य समाज के हित के निमित्त है। समाज की सुख-शान्ति के लिए उसे निर्भय होना नितान्त आवश्यक है और निर्भयता की जननी है शक्ति। शत्रु पर विजय प्राप्त करने का उपाय है शक्ति। अशान्ति, अराजकता और अन्याय को दमन करने का साधन है शक्ति। आदिशक्ति की प्रार्थना करना और उनके चरणों में मन की दुर्बलता तथा मलिनता को अर्पित कर देने से मनुष्य शक्ति प्राप्त कर सकता है। भारतीय साहित्य इसी हेतु शक्ति का स्तवन करता है।

पो०- मटियारी,
जिला- सुपौल

ठसक छोरि रसखान

ॐ डी० आर० ब्रह्मचारी

कहना नहीं होगा कि मानवीय चिन्तनधारा को राम-कृष्णचिन्तन का अवदान बड़ा ही मूल्यवान् है। किन्तु बहुत कुछ साम्य होते हुए भी दोनों की अवधारणाओं में मौलिक अन्तर भी है।

राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मर्यादा से किंचित् स्खलन उन्हें कथमपि सह्य नहीं, स्वीकार्य नहीं। सतत, सर्वत्र। उनकी मान्यता है—

रघुवंसिंह कर सहज सुभाऊ।
मन कुपन्थ पग धरइ न काहू।
मोहि अतिशय प्रतीत मन केरी।
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी।
जिन्ह के लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहिं पावहिं परतिय मन डीठी।
मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं।
ते नर वर थोड़े जग माहीं।

कृष्ण की स्थापना है— सर्वधर्मान्

परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। कुछ भी चुरा या छिपाकर रखना उन्हें बर्दाश्त नहीं, सर्वांग समर्पण के कायल जो ठहरे! उनका पूरा जीवन इसका प्रमाण है। 'कृष्ण' का एक अर्थ और भी है— जो पूर्ण रूप से आकृष्ट कर ले, खींच ले, निःस्व बना डाले।

अति सूधो सनेह को मारग है,

जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।

तहँ साँचे चले तजि आपुन पौ

झिझकें कपटी जे निसाँक नहीं।

कृष्ण-भावना में पर्याप्त लचीलापन है।

श्रीमद्भागवत में आया है, कृष्ण की बाँसुरी को सुनकर गोपियाँ अत्यन्त विह्वल हो उठती हैं।

दूध दुहनेवाली उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर भी कृष्ण के पास चल पड़ती हैं, दूध औटनेवाली चूल्हे पर उफनते दूध को छोड़कर तथा लपसी पकानेवाली चूल्हे पर से बिना उतारे ही ज्यों-की-त्यों छोड़कर भागती हैं। भोजन परोसनेवाली भोजन परोसना

छोड़कर, दूध पिलाती अपने दूध पीते बच्चे को छोड़कर, पति की सेवा करनेवाली अपने पति की सेवा-शुश्रूषा छोड़कर

[श्रीकृष्ण की मुरली की तान सुन जब गायें भी दौड़ जाती हो, जिनकी लाली ऐसी कि जो पास जाए वह भी लाल ही लाल हो जाए! फिर कवि तो भावुक ठहरा, थोड़ा-सा राग सुना, थोड़ी-सी लाली देखी; वस सब कुछ सुध-बुध भूल बैठे। इसी कृष्ण-भक्ति धारा में डूबते उतराते 'कविवर रसखान' पर एक विवेचन प्रस्तुत है।

—सं०]

तथा भोजन कर रही भोजन करना छोड़कर कृष्ण के पास दौड़ती हैं। शरीर में अंगराग-उबटन लगानेवाली उसे भूलकर और आँखों में अंजन लगानेवाली अंजन लगाना छोड़कर कृष्ण की ओर खिंचती चली जाती हैं। यहाँ तक कि वस्त्र पहननेवाली उलटे-पुलटे वस्त्रों को लपेट कर कृष्ण के पास भागती है।

वे इतनी मुग्ध हो जाती हैं कि पिता, पति, भाई और जाति-बन्धु की एक नहीं सुनतीं।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।

पयोऽधिश्रित्य संयावमनुदास्यापरा ययुः॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।

शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अज्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तत मोहिता॥

(भागवत : १०.२६.५-८)

लोहियाजी ने कृष्ण की व्याख्या करते हुए कहा था— कृष्ण की माँ दो, पिता दो, प्रेमिका अनेक। लेकिन देखने योग्य है कि पहले से दूसरे को उत्तरोत्तर महत्त्व देनेवाले। जन्म देनेवाली देवकी, पर देवकी-नन्दन कहाँ रह गए? वे यशोदानन्दन हो गए। जन्मदायक पिता वसुदेव, किन्तु वासुदेव होकर भी हो गए नन्ददुलारे, नन्दकुमार, नन्दनन्दन। बाल-सहचरी राधा, पर चले गए शत्रु-प्रदेश में कुब्जा के उद्धार के निमित्त। चाहे सुनना क्यों न पड़े—

होती जू पै कुबरी ह्याँ सखि
भरि लातन मूका बकोटती केती।
लेती निकाल हिये की सबै
नक छेदि कै कौड़ी पिराई कै देती
ए तो नचाइ के नाच वराँड को
लाल रिझावन की फल पेती
से तो सदाँ रसखानि लिए
कुबरी के करेजनि सूल सी भें ती।

यही नहीं, हो गए वे रुक्मिणी-रमण भी। जन्म-स्थान मथुरा, पर ब्रज के लता-पता से एकमेक होकर फिर 'ब्रजेश' हो गए। हमें सीखना भी तो चाहिए इससे?

रही कविवर रसखान की बात तो वे आपादमस्तक श्रीकृष्ण के हो गए। श्रीकृष्ण के रंग में इस प्रकार रंगे कि 'गोकुल', 'गोकुल के ग्वारन', वहाँ की गायें, गोवर्धन और 'कालिन्दी-कूल कदम्ब' के अतिरिक्त उन्हें कुछ दिखाई पड़ता ही नहीं। कृष्ण की 'लकुटी' और 'कामरि' पर तीनों लोक का राज्य, 'आठो सिद्धियों-नवो निधियों' के सुख को नन्द की गाय चराने में तथा करोड़ों की बहुमूल्य सम्पदा 'करील के कुंज' के ऊपर न्योछावर को तत्पर हैं। वे इन्हीं आँखों से ब्रज के वन-बाग-तड़ाग निहारने में तल्लीन रहना चाहते हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।

आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख
नन्द की गाय चराय बिसारौं।
इन आँखिन सौँ रसखान कबौं
ब्रज को वन-बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत को धाम
करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

वह कहते हैं—

बैन वही उनको गुन गाइ,
अरु कान वही उन बैन को सानी।
हाथ वही उन गात सरै,
अरु पाइ वही जु वही अनुगामी।
जान वही उन प्रान के संग,
अरु मान वही जु करै मनमानी।
त्यौँ रसखानि, वही रसखानि,
जु है रसखानि सो है रसखानी।

इस प्रसंग में रसखान के साथ ताज बीबी (१६४३ ई०) का स्मरण हो आना स्वाभाविक है, जो नमाज को भुलाकर, 'कलाम-कुरान' को तजकर अपने को कृष्ण की बना डालती है—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहौंगी मैं।
देव-पूजा ठानी मैं निवाज हू भुलानी,
तजे कलाम-कुरान सारे गुनन गहौंगी मैं।
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्ली दिए,
तेरी नेह-आग में निदाग हो दहौंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पे
ताँड़े नाम प्यार हिंदुवानी हो रहौंगी मैं॥

कृष्णभक्ति-साहित्य में रसखान की अपनी पहचान है। इसलिए कि उन्होंने कृष्णभक्त कवियों की पीटी-पिटाई लीक पर आँखें मूँद अनुगमन नहीं किया है, उनमें उद्भावनाओं की नवीनता परिलक्षित होती है। बाल कृष्ण के हाथ से माखन-रोटी छीनने के दृश्य पर वे कौए के भाग्य की सराहना करते हैं—

धूरि भरे अति सोधित स्यामजू
वैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरै अँगना पग
पैजनी बाजत पीरी कछोटी।
वा छवि को रसखान विलोकत
वारत काम कलानिधि कोटी।

काग के भाग बड़े सजनी हरि

हाथ सों लै गयो माखन रोटी ।

गोपियाँ कहती हैं— कहलाते हो बड़े दानी,
पर तुम तो हमसे माँग रहे हो। अगर तुम्हारे कृत्य का
पता राजा कंस को चल जाए तो उसके सिपाही
तुम्हारे डाँड़ में रस्सा लगाकर ले जाएँगे। इसलिए
हटो रास्ता छोड़ो। यदि हमारा छल्ला टूटा तो उसकी
कीमत अदा करने में नन्द बाबा का गोधन-सहित
सारा धन बिक जाएगा। तुम हमारे एक छल्ले के
मूल्य के बराबर भी न हो—

दानी भये नये माँगत दान

सुनै जु पै कंस तो बाँधि के जै हो ।

रोकत हौ वन में रसखानि

पसारत हाथ धनौ दुख पै हो ।।

दूटै छरा बछरादिक गोधन

जो धन है सु सबै धन दैहो ।

जै हे अभूषन काहू सखी को

तो मोल छला के लला न बिकै हो ।।

गोपियों को कृष्ण की बाँसुरी-प्रेम से स्पर्द्धा
है। वे समझती हैं कि बाँसुरी के कारण ही कृष्ण ने
हमें गौण कर दिया है, भुला दिया है। इसलिए वे
कृष्ण का सारा स्वांग तो कर सकती हैं, पर अपने
अधर पर निगोड़ी बाँसुरी को स्थान नहीं दे सकतीं—

भावती वोहि मेरो रसखानि सौं

तेरे कहे सब स्वांग करौंगी ।

या मुरली मुरलीधर की

आधरा न धरी अधरा न धरौंगी ।

ऐसे ही उदाहरण रसखान को पिष्टपेषण से
बचाकर उनकी रससिद्धि की मौलिकता को प्रमाणित
करते हैं, उनकी नवलता को पुष्ट करते हैं और
उनके 'रसखान' नाम को चरितार्थ करते हैं। यही
नहीं उन्हें, सीमाओं से ऊपर उठाते भी हैं। 'कु'
धातु से निष्पन्न 'कवि' शब्द का अर्थ भी होता है,
व्याप्ति, आकाश। 'कवृ वर्णे कविः।' 'अग्निपुराण' के
अनुसार कवि अपनी रुचि के अनुसार विश्व को परिवर्तित
कर लेता है— यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते
(३३६.१७)। पर उसके साथ कुछ पाबन्दियाँ भी हैं,
जैसे चित्रकार को आकार के अनुकूल चित्र बनाने की—

स यत्त्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम् ।

यादृशाकारश्चित्रकारः तदाकारमस्य चित्रम् ।।

(राजशेखर)

रसखान की कृष्ण-भक्ति अनन्य है, अन्तः
प्रेरित है। उनका समर्पण विलक्षण है।

सत्ता-लोलुपों की पाशविकता के नग्ननृत्य
के परिणाम-स्वरूप दिल्ली नगर को श्मशान में
परिणत होते देखकर ही अपने बादशाह वंश की
सारी ठसक— आभिजात्य अभिमान को तिलांजलि
देते हुए मानिनी से अपने सारे आकर्षण को तोड़
कर प्रेमदेवता श्रीकृष्ण के वशीभूत होकर मियाँ
'रसखान' हो गए। कृष्णा तो अशरण-शरण हैं ही।
अपनी 'प्रेमवाटिका' में रसखान ने लिखा है—

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान ।

छिनहि बादसा-वंस की, ठसक छोरि रसखान ।।

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान ।

प्रेमदेव की छविहि लिखि, भये मियाँ रसखान ।।

श्रीकृष्ण के पास पहुँचने का एक ही मार्ग है—
ठसक का त्याग—

प्रेम गली अति साँकड़ी ता में दोन समाय ।

ऊँचाई पर जाकर किया गया चिन्तन देश-
कालविशेष के लिए ही नहीं होता, बल्कि इससे
उत्तीर्ण वह सभी के लिए सुलभ है। कृष्णभावना
की यही खूबी है, यही वैशिष्ट्य है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—
श्रीकृष्णभक्ति के साहित्य में जिस मधुर भाव पर
बहुत अधिक बल दिया गया है, उसमें विश्वजनीन
तत्त्व है। धर्म-सम्प्रदाय और विश्वासों के बाहरी
बन्धन उस विश्वजनीन माधुर्य तत्त्व के आकर्षण
को रोक नहीं सके हैं, (हजारी प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली-
खण्ड-३, पृष्ठ ३७२)। पर उसमें केवल माधुर्य
तत्त्व ही नहीं— **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव
भजाम्यहम्**। 'प्रियप्रवास' का आधार भी कृष्ण-
अन्तश्चेतना में भी श्रीकृष्ण ही हैं और 'कनुप्रिया'
तथा 'अन्धायुग' के रचयिता धर्मवीर भारती का
फलक भी कृष्ण का ही है।

नक्कथान, मोहनपुर,
समस्तीपुर-८४८१०१

✕

सुनु सुत तोहि उरिन में नाहीं

डा० कामाख्या चरण मिश्र

भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास रचित 'श्रीरामचरितमानस' का 'सुन्दरकाण्ड' कम सुन्दर नहीं है। काव्य-सौन्दर्य के जो-जो तत्त्व हैं, वे सब 'मानस' में भरपूर हैं। सौन्दर्यानुभूति कराना ही काव्य की सर्वोच्च सार्थकता है। कविता सत्य की अभिव्यक्ति है। वही शिव है और सुन्दर भी है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति शब्दों के बड़े गुब्बारे उड़ाने से नहीं, मानवीय शब्दों को अधिक-से-अधिक ऊँचाई और विस्तार देने से होती है। मैथ्यू आर्नल्ड का भी यही विचार है— It is simply the most delightful and perfect term of utterance that human words can reach. और यह भी कि Poetry is at bottom a criticism of life. The greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life.

महाकवि वह है, जो जीवन के उच्च-उदात्त भावों को सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान करता है; क्योंकि कविता मानव-जीवन का अन्तर्दर्शन है, उसकी रागात्मक अभिव्यक्ति है। वाक्-चातुरी से उलझाने या अस्वाभाविक कल्पनाओं से बाँधने पर वह कविता नहीं रह जाती, जड़ हो जाती है।

कविता में हृदय के अत्यन्त सूक्ष्म, कोमल और सुकुमार भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है,

जो पाठक या श्रोता को तुरन्त प्रभावित करती है। अभिव्यक्ति भाव को शब्दों से सजा देना भर नहीं है, उसे प्रभावशाली बनाना भी है।

ऐसे तो जीवन के सभी भाव लगभग सबके एक जैसे ही होते हैं; लेकिन गीत में उन भावों को तीव्र और तीक्ष्ण बनाकर प्रस्तुत किया जाता है।

[सुग्रीव ने प्रभु श्रीराम की सेवा की तो उन्हें राज्य मिला, पत्नी मिली। विभीषण को तो लंका की राज्यश्री ही मिल गई। लेकिन अतुलित-बलधामा पवनपुत्र हनुमान् की तो कुछ कामना ही नहीं थी। प्रभु श्रीराम के निष्काम-भक्त हनुमान् का प्रत्युपकार भला प्रभु कैसे कर सकेंगे! यह सच ही है कि निष्काम-भक्त के ऋणी भगवान् भी हो जाते हैं, तभी तो श्रीराम ने कहा— 'सुनु सुत तोहि उरिन में नाहीं।'
—सं०]

उदाहरण के लिए मानस के 'सुन्दरकाण्ड' की यह यह छोटी-सी अर्धाली हमारी इन स्थापनाओं को सही ढंग से प्रस्तुत कर सकेगी—

सुनु सुत तोहि उरिन में नहीं।

इस में आस्था जिस उदात्त और ललित रूप में चित्रित हुई है, वह तुलसीदास के समकालीन रचनाकारों में दुर्लभ ही है। यह अर्धाली ही हनुमान्जी के प्रति श्रीराम के

निगूढ़ अनुराग और उनके जीवन से जुड़ी यादों को परत-दर-परत उघाड़ती चली जाती है।

इसमें कितनी तस्वीरें उभर रही हैं! यह राम के जीवन के ऊबड़-खाबड़, उतार-चढ़ाव, टेढ़े-मेढ़े मोड़ की ऐसी मार्मिक अभिव्यक्ति है, जो न केवल राम के सम्पूर्ण जीवन; वरन् शौर्य-वीर के निधान, अद्भुत ऐश्वर्य के धाम, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के प्रतीक श्री हनुमान्जी की निश्छल सेवा-परायणता को भी रूपायित करती है, स्वयं राम ने भी हनुमान्जी के यश का वर्णन किया है—

महावीर बिनवउँ हनुमाना ।

राम जासु जस आप बखाना ॥

(मानस : १.१६.५)

और भी—

पराक्रमोत्साह-मति-प्रताप-

सौशील्य-माधुर्य-नयानयैश्च ।

गाम्भीर्य-चातुर्य-सुवीर्य-धैर्य-

हनूमतः कोऽप्यधिकोऽस्ति लोके ।।

(वाल्मीकि-रामायण : ७.३६.४४)

अर्थात् संसार में ऐसा कौन है, जो पराक्रम, उत्साह, बुद्धि, प्रताप, सुशीलता, मधुरता, चतुरता, गम्भीरता, नीति-अनीति के विवेक, अपरिमेय बल-विवेक-धैर्य में हनुमान्जी से बढ़कर हो। किन्तु तुलसी के राम वाल्मीकीय और 'अध्यात्मकल्प' के 'राम' से कहीं अधिक सुशील और संकोची हैं। 'अध्यात्म रामायण' में हनुमान्जी के गाढ़ आलिंगन को दान और दुर्लभ पदार्थादि बताया गया है—

इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते ।

इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम् ।।

सार्द्रनेत्रो रघुश्रेष्ठः परां प्रीतिमवाप सः ।

हनूमन्तमुवाचेदं राघवो भक्तवत्सलः ।।

परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः ।।

(५.५.६१-६२)

किन्तु, 'मानस' में गोस्वामीजी ने इस प्रसंग को स्नेह की सरिता से लबालब भर दिया है—

कपि उठाई प्रभु हृदयँ लगावा ।

कर गहि परम निकट बैठावा ।।

(५.३३.४)

'हृदय से लगाना और हाथ पकड़कर अपने निकट बिठाना यह अत्यधिक आदर और प्रीति का परिचायक है। कहना नहीं होगा कि हनुमान्जी के समान यहाँ गौरव और ऐश्वर्य सम्पूर्ण 'मानस' में किसी दूसरे को नहीं मिला है।

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं— अर्धाली में जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवहु सो भगवाना-करुणा-

वरुणालय राम और हनुमान— दोनों का ऐश्वर्य प्रकट हुआ है। यहाँ राम की चिर कृतज्ञता भी प्रकट हुई है और हनुमान् की सेवा-परायणता भी। प्रसंगानुसार यहाँ हनुमान् वैदेही का सन्धान कर लौटे हैं। सम्पूर्ण वानर-समूह हर्षित है। राम जानकी का हाल-चाल पूछते हैं, भाव-विभोर हो हनुमान्जी को हृदय से लगा लेते हैं और कृतज्ञता-पूर्वक उनके द्वारा किए गए कार्यों का स्मरण करते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में राम कहते हैं—

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रामोऽत्यन्तप्रहृष्टधीः ।।

हनूमन्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम् ।

उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः ।।

(५.५.६०)

अर्थात् हनुमान्जी के वचन सुनकर श्री राम अत्यन्त प्रसन्न हो गए। कहने लगे कि "हे हनुमान्! तुमने जो कार्य किया है, वह देवताओं से भी होना कठिन है। मैं इसके बदले में तुम्हारा क्या उपकार करूँ, सो नहीं जानता। लो, मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पित करता हूँ। 'वाल्मीकीय रामायण' में भी वही सहजता है—

इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति ।

यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम् ।।

एष सर्वभूतस्तु परिष्ठाङ्गो हनूमतः ।

मया कालमिवं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः ।।

इत्युक्त्वा प्रीतिदृष्टाङ्गो रामस्तं परिष्वजे ।

हनूमन्तं कृतात्मानं कृतकार्यमुपागतम् ।।

(६.१.१२-१४)

'मानस' में हनुमान् के प्रति राम का अपार स्नेह, सौख्य-वात्सल्य प्रकट हुआ है। गोस्वामीजी का वर्णन उच्च, उदात्त है। उन्होंने अपना हृदय खोलकर सामने रख दिया है—

सुनि कपि तोहि समान उपकारी ।

नहि कोउ सुर नर मुनि-तनु धारी ।।

प्रति उपकार करौ कर तोरा ।

सनमुख होई न सकत मन मोरा ।।

(५.३२.५-७)

किसी ने उपाकर किया हो तो उसका भी उपकार करना चाहिए, यह सनातन धर्म है—

कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः।

सोऽयं तत्प्रतिकारार्थी त्वत्तः सम्मानमहति।।

(वाल्मीकि-रामायण : ५.१.११३)

हनुमान्जी ने देखते-ही-देखते समुद्र लाँघ लिया। सोने की चहारदीवारी से घिरी, पर्वत के ही समान ऊँचे और शरद् ऋतु के बादलों-से श्वेत भवनों से भरी हुई महापुरी लंका को ठिकाने लगाया। उस नगर की भारी चौकसी के बीच सीताजी की खोज की। उन्हें ढाढ़स दिया—

प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना।

समाश्वसिहि भद्रं ते क्षीणदुःखफला ह्यसि।।

(वाल्मीकि-रामायण : ५.३६.३)

सीताजी को रामनामांकित मुद्रिका दी। रावण को सबक सिखाकर चूड़ामणि ले प्रभु के चरणों में लौट आए। इसी से राम हनुमान् के ऋणी हो गए—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं!

समुद्र लाँघना, सीताजी की खोज करना, उनकी दिव्य चूड़ामणि श्रीराम को सौंपना अन्य के बल-बूते की बात नहीं थी। तभी तो अंगद, जाम्बवान्, सुग्रीव-जैसे शूरमा-सब-के-सब देखते रह गए और हनुमान् ने पलक झपकते सब काम पूरा कर दिया। इसी से हनुमान्जी की अतुलित बल-बुद्धि और शक्ति-सामर्थ्य आँकी जा सकती है। स्वयं राम ने भी स्वीकार किया है—

कृतं हनूमता कार्यं सुमहद् भुवि दुर्लभम्।

मनसापि यदन्येन न शक्यं धरणीतले।।

(वाल्मीकि-रामायण : ६.१.२)

हनुमान्जी ने जो काम किया, वह देवताओं के लिए भी दुष्कर था। धरती पर और कोई उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। इसी से वह हनुमान् के ऋणी हो जाते हैं।

राम हनुमान् के ऋणी हैं, उन्होंने सीताजी का शुभ संवाद सुनाया, इससे रघुवंशियों का धर्म बच

गया, अन्यथा स्वर्गस्थ पिता राम को कुल-कलंकी ही समझते—

अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः।

वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिता।।

(वाल्मीकि-रामायण : ६.१.११)

राम को आज एक बात बहुत खटक रही है कि इतने बड़े उपकारी, इस प्रिय संवाददाता को इस कार्य के अनुरूप कुछ भी पारितोषिक नहीं दे सकते। इतना भारी उपकार के बदले प्रभु क्या देंगे—

सनमुख होइ न सकत मन मोरा।।

देखेऊँ करि विचार मन माहीं।।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो देखना भी तीन प्रकार का है— आँखों से देखना— यह योगज प्रत्यक्ष है। हाथ से प्रत्यक्ष करके मालूम करना और हृदय से महिमा का विचार करना। सगुणोपासना में तीनों प्रकार का देखना होता है। सो, गोस्वामीजी ने एक सधे कलाकार की भाँति यहाँ संकेत कर दिया है कि राम ने मन में विचार कर देख लिया कि वह हनुमान् का ऋणी ही रहेंगे, उऋण नहीं होंगे। इसलिए मन, वचन और कर्म तीनों से अपनी हार स्वीकार कर ली—

सनमुख होइ न सकत मन मोरा।

राम की भरी-भरी आँखें हनुमान् पर टिकी हैं और उनका रोम-रोम पुलकित है—

लोचन नीर पुलक अतिगाता।

और वाणी मूक हो गई है—

प्रति उपकार करौं का तोरा।

यहाँ 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा'— मन है, 'कपिहि चितव सुरत्राता'— अर्थात् जो देवताओं से न हुआ, वह कपि से हुआ— यह कर्म है और 'प्रति उपकार करौं का तोरा'— वचन है।

सो जो हो, राम को सब याद आ गया। बालपन में जो बन्दर क्रीड़ा कर गया, वह कोई और नहीं, साक्षात् हनुमान्जी ही थे। वही ऋध्यमूक पर्वत पर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। फिर क्या था?

हनुमान्जी का ब्रह्मचारीवाला वेश राम को याद आ जाता है—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।।
पुलकित तन मुख आव न बचना।
देखत रुचिर वेष कै रचना।।
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही।
हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही।।

(मानस : ४.१.५-७)

‘दोहावली’ में यह भाव अधिक दर्शनीय है—

जेहि सरीर रति राम सों सोई आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान।।
जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरुखा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान।।

(१४२.४-३)

‘अध्यात्म रामायण’ में भी हनुमान्जी ब्राह्मण के वेश में श्रीराम के निकट पहुँचते हैं और सुग्रीव के साथ मित्रता करवाते हैं—

तेन सख्यं त्वया युक्तं सुग्रीवेण रघूत्तम।
किन्तु गोस्वामीजी का वर्णन अति सरस है—
नाथ सैल पर कपिपति रहई।
सो सुग्रीव दास तव अहई।।
ते सन नाथ मत्रयी कीजे।
दीन जानि तेहि अभय करीजे।।
सो सीता कर खोज कराइहि।
जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि।।

(मानस : ४.३.२-४)

हनुमान्जी बड़े उपकारी हैं। सुग्रीव बाली के डर से मारे-मारे फिरते थे। उनकी राम से मित्रता कराकर उनका दुःख दूर किया। दुष्ट बाली का वध करवाकर सुग्रीव की भार्या का उद्धार करवाया। उसे सीतान्वेषण के लिए तैयार किया। यह याद आते ही श्रीराम हनुमान् के ऋणी हो जाते हैं—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।

श्रीराम हनुमान् से उऋण होना भी नहीं चाहते—
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।

शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्।।

(वाल्मीकि-रामायणः ७.४०.२३)

अर्थात् हनुमान्जी द्वारा किए गए एक-एक उपकार के बदले राम अपने प्राण भी दे दें तो उन उपकारों से वे उऋण नहीं हो सकते; क्योंकि प्राण भी पाँच ही हैं और हनुमान् के उपकार अनन्त हैं। इसलिए शेष उपकारों के लिए वे उनके ऋणी ही रहेंगे।

हनुमान्जी का ऋण जगन्मात्र पर है। सुर, नर, मुनि— तीनों हनुमान्जी के ऋणी हैं। ये तीनों उनका प्रत्युपकार नहीं कर सकते—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

हनुमान्जी ने रावणादि अनेक राक्षसों का मानमर्दन व वध कराकर सुर, नर, मुनि तीनों को सुख दिया। ये तीनों उपकारी होते हैं। अन्य जीव वैसा उपकार करना नहीं जानते; किन्तु हनुमान्जी से जो उपकार हुआ, वह सुर, नर, मुनि से किसी से नहीं हुआ।

श्रीराम मन में विचार करते हैं कि हनुमान्-जैसा उनका कोई उपकारी नहीं है; क्योंकि—

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई।

या

रिपुहि जीति आनिबी जानकी।

अर्थात् प्रभु की कृपा हुई तो असुरों की बात ही कितनी है। राक्षसों का मानमर्दन कर जानकी को ले आएँगे। यह जान, भाव-विभोर हो, राम ने हनुमान्जी को हृदय से लगा लिया।

‘सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं’ का भाव है कि श्रीराम ने पक्षी (जटायु), पशु (ऋक्ष-वानर), व्याध (वाल्मीकि), पाषाण (अहल्या), जड़ (यमलार्जुन) कोल, भील-निषाद आदि अनेक जीवों का उपकार किया; किन्तु हनुमान्जी ने राम का उपकार किया। उन्हें ऋणी बनाया। इसी से राम हनुमान् के ऋणी हो गए।

हनुमान्जी का कार्य अत्यन्त कठिन था। उनके अतिरिक्त कोई और कर ही नहीं सकता था; क्योंकि रावण ने तैतीस कोटि देवताओं— नर, मुनि, दानवों— सबको जीत लिया था। हनुमान्जी

ने स्वार्थरहित उपकार किया। रुद्रावतार होने से बिना कुछ लिए ही मनोवांछित फल प्रदान किया। अनेक राक्षसों का संहार किया। सुर, नर, मुनि सबको अभय अशोक किया। ऐसा उपकार करनेवाला कोई नहीं है; यथा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी।

नहि कोउ सुर नर मुनि-तनु धारी।।

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। इसमें श्रीराम ने हनुमान्जी को अपनी साहिबी दी है कि “हे हनुमान्! तुम धनी हो, मैं धन्य हो गया। मैं ऋणी हूँ और तुम महाजन हो; मैं तुम्हारा कर्जदार हूँ।” और तब कृतज्ञता की चरम सीमा है, इति है। यहाँ ध्वनित है कि प्रत्युपकार तो उनके साथ किया जाता है, जिसके मन में कुछ पाने की या बदले में कुछ लेने की इच्छा वर्तमान रहती है; लेकिन हनुमान्जी तो स्वार्थ से परे हैं, तब भला श्रीराम उपकार का बदला कैसे चुका सकते हैं। इसी से वे हनुमान् के ऋणी हो जाते हैं।

प्रत्युपकार— उपकार के बदले उपकार की बात प्रभु सोच भी नहीं सकते—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे।

नर प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्।।

(वाल्मीकि-रामायणः ७.४०.२४)

श्रीराम हनुमान् के इष्ट जो हैं। उनके प्रति वात्सल्य भाव रखते हैं। ‘सुत’ कहने से स्वप्न में भी यह नहीं सोच सकते कि हनुमान् पर कोई संकट आए और वह उनकी सहायता करें, उनका उपकार करें। इसलिए श्रीराम हनुमान् के ऋणी ही रहना चाहते हैं।

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
एस० एस० पी० एस० कॉलेज,
पो०- शम्भुगंज, जिला- बाँका,
(बिहार)

✈

सन्देश

भगवान् बुद्ध का जीवन एवं उनके सन्देश पर आधारित संस्कृत महाकाव्य ‘बुद्धचरित’ महाकवि अश्वघोष की महनीय कृति है। खेद का विषय है कि २८ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य का १-४ सर्ग ही मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं। इस भाग में भी अनेक श्लोक उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु सम्पूर्ण बुद्धचरित का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है, जिसके आधार पर आगे चलकर डा० जॉन्स्टन ने इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया। इस अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर सूर्यनारायण चौधरी ने हिन्दी में अनुवाद किया है। इस बुद्धचरित के पन्द्रहवें सर्ग में बुद्ध ने अपने धर्म का मूलभूत उद्देश्य इन चार श्लोकों में स्पष्ट किया है—

(१) पूर्व में जीव-लोक को आर्त देख कर मैंने यों प्रतिज्ञा की— स्वयं पार होने पर मैं जगत् को पार लगाऊँगा, स्वयं मुक्त होने पर मैं यहाँ रहने वालों को मुक्त करूँगा।

(२) इस जगत् में कुछ लोग धन पाकर केवल अपने लिए ही रखते हैं और इससे लज्जा को प्राप्त होते हैं; किन्तु विशेष (सम्पत्ति) प्राप्त करने पर खुली दृष्टि वाले महापुरुष (= महाजन) के लिए केवल वही धन है जिसे वह वितरण करता है।

(३) सूखी भूमि पर खड़ा रहने वाला यदि धारा में बहते आदमी को बाहर खींचने का यत्न नहीं करे, तो वह वीर नहीं; और सम्पत्ति पाने वाला यदि उसे गरीबों के बीच नहीं बाँटे, तो वह दाता नहीं।

(४) स्वस्थ (मनुष्य) को सुलभ उपचारों से व्याधिग्रस्त की चिकित्सा करनी चाहिए और मार्गपति को कुमार्ग से जाने वाले को उचित (= गम्य) मार्ग बताना चाहिए।

—(अनुवाद : सूर्यनारायण चौधरी)

मन के जीतें जीत

डा० भुलन सिंह

विश्व-वाङ्मय में धर्म के अनेक विधान हैं। ऋषियों ने अपने-अपने अनुभवों एवं ज्ञान के अनुसार विधान बनाए हैं, किन्तु सभी धर्मों का आधार है 'मन'। ज्ञान अथवा अज्ञान सब कुछ मन की अवस्था है। मनुष्य का मन ही उसे बद्ध और मुक्त, साधु और असाधु, पापी तथा पुण्यवान् बनाता है। मन के बिना कोई भी काम नहीं किया जा सकता—**यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** (यजुर्वेद : ३४.३)। मुक्ति तो एक मात्र ज्ञान से होती है—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**। कहा गया है—**“ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना”** (मानस : ३.१५.१)। ज्ञान का वास्तविक अर्थ है— मिथ्या मान्यताओं से मुक्ति और स्वयं के स्वरूप को जान लेना। यदि मन के बारे में विचार करें तो ऐसा लगता है कि जिस तरह यह शरीर स्वयं एक छोटा-सा जगत् है— वपुस् ब्रह्माण्ड, उसी तरह यह सम्पूर्ण विश्व एक शरीर है। उसके पीछे समष्टि मन है और समष्टि मन के पीछे है परमात्मा। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमुख से कहा है—

[**“मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः”** की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **सुख-दुःख, जीत-हार, हर्ष-विषाद आदि सभी भाव मन के होते हैं; यही बन्धन का तथा यही उन्मुक्तता का अनुभव करता है। दार्शनिकों ने इसे नौ द्रव्य के अन्तर्गत रखा है। इस मन को नियन्त्रित कर भक्ति एवं परमसुख की ओर ले जाने के उपायों की व्याख्या के साथ इस आलेख में मन की महत्ता प्रकाशित है।**

—सं०]

**मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।**

(गीता : १४.३)

मतलब कि जिस तरह यह व्यष्टि-शरीर उस समष्टि-विश्व-शरीर का अंश है, उसी तरह यह मनुष्य का मन उस समष्टि-मन का अंश सिद्ध हुआ तथा यह जीवात्मा उस विश्वात्मा का अंश हुआ। **“ईश्वर अंस जीव अविनासी”** (मानस : ६.११६.ख.१)।

इसे यों कहें कि वैयक्तिक मन ब्रह्माण्डीय मन या हिरण्यगर्भ-रूपी सागर की एक तरंग की तरह है। यह मन प्रकृति

से उत्पन्न हुआ है और प्रकृति तीन गुणों से निर्मित है तथा ये अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।

(गीता : १४.५)

इसका तात्पर्य हुआ कि बाह्य जगत् सत्, रज और तम इन तीन गुणों का प्रकाश साम्यावस्था, क्रियाशीलता तथा जड़ता के रूप में दिखाई देता

है। तम की व्याख्या अन्धकार, आलस्य अथवा कर्मशून्यता के रूप में की गई है एवं रज की कर्मशीलता, आकर्षण एवं विकर्षण के रूप में। सत्त्व इन दोनों की साम्यावस्था तथा संयम रूप होता है।

शास्त्रीय भाषा में यों कहा जाए कि मन की रजोगुणी शक्ति का नाम ब्रह्मा, तमोगुणी शक्ति का नाम रुद्र (महेश) और सत्त्वगुणी शक्ति का नाम विष्णु है। एक ओर जहाँ रजोगुणी धार (ब्रह्मा) प्रकट करती है तो वहीं दूसरी ओर तमोगुणी धार (महेश) मिटाने में व्यस्त है। प्राणी इन दोनों शक्तियों के बीच भटक रहा है। यही कारण है कि वैयक्तिक मन में भी महाभारत का युद्ध या देवासुर संग्राम या समुद्र-मन्थन-जैसी स्थिति अमृत-विष हासिल करने का दौड़-सा लगा रहता है। अतः मनोवैज्ञानिक या व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह कहना युक्तिसंगत लगता है कि संसार में प्रेम और द्वेष का भाव मानव-मन में उठना स्वाभाविक है।

सत्त्व-गुणी धार प्रभु के समीप तक ले जाती है। इसकी ताकत तो है आत्मा। उपनिषद्-वाक्य है— “आत्मा हि ब्रह्म”। तभी तो ‘गो’ यानी इन्द्रियों के प्रकाशक होने से गोविन्द कहते हैं। चेतन आत्मा के कारण ही नेत्रेन्द्रिय अवलोकन करती है, श्रवणेन्द्रिय शब्द ग्रहण करती है, रसनेन्द्रिय रसास्वादन करती है, त्वचा स्पर्श-ज्ञान करती है, नासिका गन्ध ग्रहण करती है, मन संकल्प-विकल्प करता है तथा बुद्धि विचारती है। तात्पर्य यह है कि चेतना-युक्त इन्द्रियाँ क्रियाशील और चेतना-विहीन इन्द्रियाँ कुछ नहीं करतीं।

यों कहा जाए कि चेतन आत्मा से स्थूल-सूक्ष्मादि समस्त इन्द्रियाँ संचालित होती हैं। मन में जब ‘मैं’ तथा ‘मेरापन’ का भाव उत्पन्न होता है, तब उसे अहंकार तथा जब वह सोचता है या निर्णय

करता है, तब उसे बुद्धि कहा जाता है। अचेतन मन में जब जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार एकत्र होते हैं तो उसे चित्त कहा जाता है। अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार जो अन्तःकरण चतुष्टय कहलाते हैं, क्रियाभेद से अलग-अलग हैं, पर सबका केन्द्र एक ही है मस्तिष्क।

योगशिखोपनिषद् के छठे अध्याय में मन पर बड़े विस्तार से विचार किया गया है। आत्मतत्त्व यद्यपि मन से अतीत है, परन्तु मन का चरम साध्य आत्मतत्त्व में विलय ही है। इसलिए भौतिक सुखोपलब्धि से मन को कभी भी सच्ची तृप्ति नहीं होती। स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिए उसे अन्तर्मुख करना ही होगा, क्योंकि आनन्द का स्थान हृदयगुहा ही है। मन को माध्यम बनाकर ज्ञान जब पकता है, तब भक्ति बन जाती है।

भक्ति से ही भगवान् की प्राप्ति होती है, क्योंकि भगवान् भक्ति के वशी हैं। अतः मन को पकाना असली चीज है, अन्यथा सारे ताम-झाम, कण्ठी-माला, सोंटा-कमण्डलु, जटा-नख व्यर्थ हैं।

जप माला छापा तिलक, सरे न एकौ काम।

मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै राम।।

जब तक इसको अपना संगी-साथी न बना लिया जाए, तब तक यह परमार्थ मार्ग में रोड़ा अटकाकर परेशान करता रहेगा और प्रभुमन्दिर में पहुँचकर भी प्रभुदर्शन से वंचित रहना पड़ जाएगा।

इस सम्बन्ध में महाभारत के आदिपर्व में कथा आती है कि द्रोणाचार्य के निर्देशन में जब सभी शिष्यों ने धनुष-बाण चलाने का प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया, तब उनके मन में यह बात आई कि मेरे शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कौन है? इसके लिए उन्होंने एक प्रतियोगिता आयोजित की और वृक्ष पर एक लकड़ी की चिड़िया रख दी तथा एक-एक कर अपने शिष्यों को चिड़िया की आँख पर निशाना लगाने को कहा।

जब युधिष्ठिर की बारी आई, तब द्रोणाचार्य ने पूछा— “तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है?” युधिष्ठिर ने कहा— “मुझे आप दिखाई पड़ रहे हैं, अन्य सभी भाई दिखाई दे रहे हैं, वृक्ष दिखाई पड़ रहा है और मैं उस चिड़िया को भी देख रहा हूँ।”

द्रोणाचार्य ने कहा— “तुम्हारी शिक्षा अभी अधूरी है।” कहकर उन्होंने निशाना लगाने से उन्हें मना कर दिया। अब दुर्योधन की बारी आई। उससे भी द्रोणाचार्य ने यही प्रश्न किया। युधिष्ठिर की ही तरह उसका भी जवाब आया। द्रोणाचार्य ने उसे भी निशाना लगाने के योग्य नहीं समझा और उसे भी मना कर दिया।

इसी प्रकार बारी-बारी से सभी शिष्यों को द्रोणाचार्य ने अयोग्य घोषित कर निशाना लगाने से मना कर दिया। अन्त में अर्जुन की बारी आई। द्रोणाचार्य ने अर्जुन से प्रश्न किया— “तुम्हें क्या दिखाई पड़ रहा है?” अर्जुन ने उत्तर दिया— “मुझे न तो आप दिखाई पड़ रहे हैं और न कोई मेरे भाई और न तो वृक्ष ही।” इससे द्रोणाचार्य प्रसन्न हुए और थोड़ी देर के बाद पुनः प्रश्न किया— “क्या तुम्हें चिड़िया दिखाई पड़ रही है?” “नहीं”, अर्जुन ने जवाब दिया— “मैं केवल चिड़िया की आँख देख रहा हूँ।” द्रोणाचार्य ने बाण चलाने का आदेश दिया और अर्जुन ने चिड़िया की आँखों में अपना तीर आर-पार कर दिया।

इस घटना से मन की एकाग्रता का महत्त्व परिलक्षित होता है। प्राचीन काल में जो भी महाविनाशक शस्त्र थे, उनका प्रयोग व्यक्ति अपनी मनःशक्ति के द्वारा किया करता था।

इसी सम्बन्ध में एक और प्रसिद्ध कथा याद आती है कि महर्षि वेदव्यास ने अपने पुत्र शुकदेव मुनि को तत्त्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए राजा जनक के पास भेजा। जब बालक शुक राजा

के महल के द्वार पर आए; तब सन्तरियों ने उन्हें बैठने के लिए एक आसन दे दिया और उस आसन पर वह बालक तीन दिनों तक लगातार बैठा रहा। न तो कोई उससे कुछ बोला और न किसी ने यही पूछा कि वह कौन है और क्या चाहता है।

इसके बाद अचानक राजा के मन्त्री तथा राज्याधिकारी वहाँ पर आए और उनका अत्यन्त सम्मान के साथ स्वागत किया तथा अन्दर एक सुशोभित गृह में ले गए। इत्रों से स्नान कराया, सुन्दर वस्त्र पहनाए और आठ दिनों तक उन्हें सब प्रकार के विलास में रखा, परन्तु बालक शुकदेव के चेहरे पर तनिक भी अन्तर न हुआ। बालक शुक अब भी वैसे ही थे, जैसे कि उस दिन, जब वे महल के द्वार पर बैठे हुए थे। इसके बाद उन्हें राजा जनक के सम्मुख लाया गया। राजा सिंहासन पर बैठे हुए थे और वहाँ नाच, गान, आमोद-प्रमोद का वातावरण था। राजा ने बालक शुक के हाथ में लबालब दूध से भरा हुआ एक प्याला दिया और उनसे कहा— “इसे लेकर दरबार की सात बार प्रदक्षिणा कर आओ, पर देखो, एक बूँद भी दूध न गिरे।” बालक शुक ने दूध का प्याला ले लिया और संगीत की ध्वनि एवं अनेक सुन्दरियों के बीच प्रदक्षिणा करने के लिए उठ चले। राजा के आज्ञानुसार सात बार चक्कर लगा आए, परन्तु दूध की एक बूँद भी न गिरी।

इसका अर्थ यह हुआ कि बालक शुक का अपने मन पर ऐसा नियन्त्रण था कि बिना उनकी इच्छा के संसार की कोई भी वस्तु उन्हें आकर्षित नहीं कर सकती थी।

कथा कहती है कि प्रदक्षिणा कर लेने के पश्चात् बालक शुक दूध का प्याला लेकर राजा जनक के पास उपस्थित हुए तो उन्होंने कहा— वत्स! जो कुछ तुम्हारे पिता ने तुम्हें सिखाया है तथा जो

कुछ तुमने स्वयं सिखा है, उससे अधिक मैं तुम्हें और कुछ नहीं सिखा सकता। तुमने सत्य को जान लिया है। अपने घर पर जाओ।

इससे स्पष्ट है कि जिस मनुष्य ने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली है, उसके ऊपर संसार की कोई भी चीज अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। उसके लिए किसी प्रकार का बन्धन भी शेष नहीं रह जाता। सच तो यह है कि मन का अपना कोई रंग नहीं—जैसी संगत, वैसी रंगत। जिस व्यक्ति का मन निराकार है, वह निराकार-सदृश होता है—

निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।

तात्पर्य है कि राजसी मन अर्थात् दुर्वासा को तभी तृप्त किया जा सकता है, जब भगवान् श्रीकृष्ण तृप्त होते हैं और जब ऐसा होता है, तब दुर्वासा अपने समस्त शिष्यों के साथ भाग खड़े होते हैं।

रहस्य यही है कि द्रौपदी का अक्षय पात्र अचेतन मन का परिचायक है और उसमें सटी हुई साग की पत्ती शुभ संस्कार का प्रतीक है और सागरूपी शुभ संस्कार भगवान् को जब अर्पित किया जाता है, तब भगवान् तृप्त होते हैं और दुर्वासा-रूपी अशुभ संस्कार को भागना पड़ता है। जैसा कि महाभारत के वन पर्व में कथा आती है कि श्रद्धा-भक्ति से परिपूर्ण होकर द्रौपदी ने भगवान् का आह्वान किया और भगवान् भक्त के दुःख को दूर करने के लिए तत्काल दौड़े आ गए तथा द्रौपदी से अक्षय पात्र माँगा।

अब देखें, मन-रूपी मलिन दर्पण का मार्जन (शुद्धि) कैसे हो? तो 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ में इसके लिए दो विधियाँ बताई गई हैं। एक विधि प्राणायाम की है, जिसके द्वारा मन पूर्ण सन्तुलन और समता में रहता है तथा दूसरी विधि वासनायाम की बताई गई, जिसमें अचेतन मन के सूक्ष्म संस्कार

को बदलकर वासना को ही रूपान्तरित कर दिया जाता है। यानी काम-वासना, मोह-वासना, दर्प-वासना, स्वार्थ-वासनादि पर प्रेमाभक्ति का रस-रंग चढ़ता है।

बलिहारी है, भगवत्कृपा से क्या नहीं होता! जब भक्त भगवान् के लिए व्याकुल होते हैं, तब भगवान् भी उनसे मिलने के लिए व्याकुल होते हैं, धर्म के स्वामी तो अच्युत हैं। समष्टि मन के मूल स्रोत हैं भगवान्। प्रसंग उठा है, जब भगवान् श्री राम प्रसन्नवण पर्वत पर निवास किए हुए थे, तब उनको याद आया कि सुग्रीव ने राज्य, खजाना, नगर, स्त्री पा लिया और प्रमादवश मेरे कार्य को उसने भुला दिया और लक्ष्मण से कहने लगे— हे लक्ष्मण! तुम भय दिखाकर सुग्रीव को ले आओ। लक्ष्य को भूल जाना ही प्रमाद है और लक्ष्य में शिथिलता बरतना ही आलस्य है। सच तो यह है कि भय दिखाने की कोई आवश्यकता भी नहीं रह गई थी। यह कार्य रुद्रावतार हनुमान्जी पहले ही कर चुके थे। उधर प्रभु के अन्तःकरण में संकल्प आया और इधर आंजनेय के हृदय में तत्काल यह सूचना प्राप्त हो गई—

इहाँ पवनसुत हृदयं बिचारा।

राम काजु सुग्रीवें बिसारा।।

(मानस : ४.१८.१)

और यह स्वाभाविक भी तो था। हनुमान्जी का हृदय प्रभु का आवासस्थल है,

प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक म्यान घन।

जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।।

ग्राम— धरमपुर,

पो०— बिछिआँव,

जिला— भोजपुर-८०२२०६

✧

कबीर की रामोपासना

ॐ ब्रजनन्दन प्रसाद सिंह

जिस प्रकार शिक्षा के लिए गुरु की जरूरत होती है, उसी प्रकार दीक्षा के लिए भी गुरु की आवश्यकता होती है। अतः कबीर ने आध्यात्मिक साधना के लिए स्वामी रामानन्द से दीक्षा ली। इस सम्बन्ध में उनका आत्मकथ्य है—

काशी में हम प्रकट भे, रामानन्द चेताये।

(कबीर शब्दावली प्रथम भाग : ७१)

मैंने काशी में जन्म लिया और रामानन्दजी से दीक्षा ली। उनके बारे में किसी ने कहा है—

रामानन्द को सिष है, कबीरा ताके सन्त।

स्मरण रहे कि आध्यात्मिक साधना में गुरु के इष्टदेव ही शिष्य के इष्टदेव होते हैं। स्वामी रामानन्द अयोध्या के राजा राम (दशरथजी के पुत्र)

के उपासक थे, अतः कबीर भी सगुण राम के उपासक थे। कबीर की

जीवनगाथा के सम्बन्ध में कहा गया है कि एक दिन उनके इष्टदेव (भगवान् राम) भक्त का रूप धारण करके इनके समीप प्रकट हुए और इनसे कपड़े की माँग की। जब कबीर अपने कपड़े की गठिया से उन्हें आधा कपड़ा देने लगे, तब भगवान् ने उनसे पूरी गठिया के कपड़े की माँग की। कबीर ने उन्हें गठिया के सारे कपड़े दे दिए। कबीर को उस दिन कोई कमाई नहीं हुई, अतः ये घर से बाहर ही कहीं रह गए। जब तीन दिनों तक कबीर के परिवार के

लोग भूखे रहे, तब भगवान् कबीर की माँ के पास धन लेकर पहुँचे। कबीर की माँ ने कहा कि यदि वह धन लेगी तो कबीर उसे खरा-खोटा कहेगा; अतः वह धन नहीं लेगी। परन्तु भगवान् राम कबीर के घर पर धन रखकर चल दिए। कबीर जब घर लौटे और घर पर धन देखा, तब उन्होंने माँ से पूछा कि यह धन किसका है? माँ ने उनसे धन से सम्बन्धित सारी कथा कही। कबीर अपने ऊपर भगवान् की इस कृपा को देखकर तानना-बुनना छोड़ दिया। इस सम्बन्ध में कबीर का कथन इस प्रकार है—

तानो बानो छांड़ि कै, रह्यो चरन चित्त लाय।

अब तौं राम दया करो, कसि पचि मरै बलाय।।

उपर्युक्त कथानक और कबीर के कथन से

सिद्ध होता है कि कबीर सगुण राम के उपासक थे, निर्गुण राम के नहीं।

[कबीरदास यद्यपि भक्ति साहित्य में निर्गुण धारा के कवि माने जाते हैं लेकिन उनकी कुछ रचनाओं में सगुणधारा की रामाश्रयी शाखा की परम्परा भी परिलक्षित होती है। कबीर की रचनाओं में सगुण राम की उपासना के तत्वों की खोज यहाँ प्रस्तुत है।

—सं०]

कबीर ने कहा है—

कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूडी सब चतुराई हो।

(बीजक कहरा : ५)

रामभजन बिना सारी चतुराई व्यर्थ है। कबीरदास सत्संग प्रेमी थे, अतः वे सभी सम्प्रदायों के (सगुण-निर्गुण-उपासकों) सन्त-महात्माओं के साथ सत्संग किया करते थे। उनके निम्नांकित कथ्य से ज्ञात होता है कि वे गुरु गोरखनाथ (योगी) से काफी प्रभावित थे—

गोरख भरथरी गोपी चंदा।

ता मन से मिली करै अनन्दा।।

ऊता मन से मिली रहा कबीरा।।

सुप्रसिद्ध कवि 'हरिऔधजी' ने अपनी पुस्तक (रस साहित्य और समीक्षाएँ) में लिखा है— "कबीरदास के लगभग सभी सिद्धान्त गुरु गोरखनाथ और उनकी परम्परा के अन्य महात्माओं की अनुभूतियों पर मुख्यतः अवलम्बित हैं। कबीर साहेब नवीन धर्म प्रवर्तन करने के इच्छुक थे। जिन सिद्धान्तों के कारण उनके सिर पर सन्त-मत (निर्गुण मत) के होने का सेहरा बाँधा जाता है, वे सिद्धान्त वस्तुतः परम्परागत और प्राचीन ही हैं। उनका चमत्कार जनता के सामने उन सिद्धान्तों को उपस्थित करने के ढंग में अवश्य है।"

कबीर एक ओर जहाँ सगुण राम के उपासक स्वामी रामानन्द के शिष्य थे, वहीं दूसरी ओर वे गुरु गोरखनाथ के निर्गुण मत से प्रभावित थे। अतः उनके समक्ष सगुण-निर्गुण मत का द्वन्द्व उपस्थित था। इस सम्बन्ध में उनका आत्मकथ्य इस प्रकार है—

झगड़ा एक बड़े राजा राम,
जो निरूवारे सो निर्णय।
ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया,
वेद बड़ा कि जिन्ह उपजाया।।
ई मन बड़ा कि जेहि मन माना,
राम बड़ा कि रामहि जाना।
भ्रमि-भ्रमि कबीरा फिरै उपासा,
तीरथ बड़ा कि तीर्थ का वासा।।

(बीजक शब्द : ११२)

सगुण-निर्गुण मत के द्वन्द्व के कारण कबीर ने परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किया—

वेद किताब कहा किन झूठा, झूठा जो न विचारे।

(बीजक शब्द : ६७)

आशय यह है कि वेद झूठा नहीं है; बिना विचार किए ही लोग उसे झूठा कहते हैं।

उन्होंने एक ओर कहा—

दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना,

राम नाम मरम है आना।

आयुहि वाउर आय समाना,

हृदय बसे तेहि राम न जाना।।

(बीजक शब्द : १०६)

सारे संसार के लोग दशरथ-पुत्र राम को जानते हैं, परन्तु वे हृदय स्थित राम (निर्गुण राम) को नहीं जानते।

उन्होंने दूसरी ओर कहा—

राम तेरी माया दुन्द मचावै।

आपुन चातुर और को सिखावै ।।

कनक कामिनी सयानी।

कहहि कबीर सुनो हो सन्तो,

राम चरण ऋतु मानी।।

(बीजक शब्द : १३)

कंचन-कामिनी के मोह में डूबे लोग अपने आपको बहुत चतुर समझते हैं और दूसरों को उपदेश देते हैं। हे सन्तो! तुम मोह त्यागकर राम के चरण का प्रेमी बनो। निर्गुण ब्रह्म निराकार होता है, अतः उसके चरण नहीं होते। चरण सगुण ब्रह्म के होते हैं। अतः कबीर के चरणप्रेम से ज्ञात होता है कि वे सगुण राम के उपासक थे।

कबीर अक्खड़ और महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे, अतः वे पन्थप्रवर्तक बनना चाहते थे। उनका कथ्य है—

समरथ का परवाना लाये, हंस ऊबारन आये।

(कबीर शब्दावली प्रथम भाग : ७१)

इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार प्रस्तुत है—

कबीर अपने श्रोताओं पर अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर

लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी-कभी करते थे।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास : ८१)

कबीर के समय में भक्तों के दो वर्ग थे, एक तो भक्ति के प्राचीन स्वरूप को लेकर चला था अर्थात् प्राचीन भागवत सम्प्रदाय नवीन विकास का अनुयायी था तथा दूसरा विदेशी परम्परा का अनुयायी, लोकधर्म से उदासीन एवं समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराक्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य साधन में संतुष्ट था। उसे भक्ति का उतना अंश ग्रहण करने का साहस हुआ, जितना कि मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी।

मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान् के इस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह नहीं हुआ, जो आत्मचारियों को दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करने का है। इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग (अवतारवाद) के विरुद्ध ईश्वर के गुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा। जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई।

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' : १-२)

आगे शुक्लजी लिखते हैं— प्रथम वर्ग के भक्त प्राचीन परम्परावाले भक्त वेद शास्त्रज्ञ, तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोकधर्म-रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था।

(शुक्लजी की पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' : २)

लोकधर्म (धर्मव्यवस्था)-रक्षक और अत्याचारियों को नष्ट करनेवाले तथा लोकरंजक (लीला करनेवाले) दशरथ-पुत्र श्रीराम थे। अतः प्राचीन परम्परा के भक्त और सन्त गोस्वामी

तुलसीदास ने दशरथ-पुत्र श्रीराम को अपना आदर्श मानकर अनास्था और अत्याचार से पीड़ित समाज को त्राण दिलाने के लिए रामचरितमानस की रचना की। गोस्वामी तुलसीदास ने दोहावली (५५४) में कहा—

साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।

भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि बेद पुरान।।

कलियुग में भक्त लोग मनमानी साखी, शब्द, दोहा और प्रामाणिक वेद-पुराणों की निन्दा करते हैं।

यह दोहा कबीर-पन्थ से सम्बन्धित है। पन्थ के सम्बन्ध में रामकृष्ण परमहंस का विचार प्रस्तुत है—

“दल शब्द में श्लेष है, अतः उनके दो अर्थ होते हैं— पन्थ और काई (शैवाल)। जिस प्रकार बहते जल में काई उत्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार शुद्ध ईश्वरभक्ति से पन्थ उत्पन्न नहीं होता। पन्थ का निर्माण वे ही लोग करते हैं, जो यश और प्रतिष्ठा के भूखे होते हैं।”

(रामकृष्ण परमहंस : ईश्वरीय-बोध)

पन्थ-प्रवर्तक मताग्रही होता है। आग्रह में अहंकार होता है, अतः कोई भी पन्थ-प्रवर्तक अहंकार-रहित नहीं होता। पन्थ-प्रवर्तक चाहे जितना उदात्त हो, परन्तु वह मताग्रह से मुक्त नहीं होता। इसलिए पन्थ-प्रवर्तक दूसरे मत की आलोचना किए बिना नहीं रहता।।

जिस समय कबीर सन्त-मत (निर्गुण-मत) के प्रवर्तक बने, उस समय हिन्दू समाज में अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र राम का नाम व्याप्त था। कबीर चतुर व्यक्ति थे, अतः उन्होंने 'राम' नाम को अपनाया, परन्तु उसका अर्थ आत्माराम (निर्गुण ब्रह्म) बताया, ताकि निर्गुण मतावलम्बी (मुसलमान, जैन और बौद्ध आदि) उनके मत को स्वीकार कर सकें। कबीर ने अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए निर्गुण मत का सहारा लिया, परन्तु वे भीतर से

सगुण राम के उपासक थे, वैष्णव थे, इसका प्रमाण उनका यह आत्मकथ्य है—

मेरे संगी द्वै जना एक वैष्णव एक राम।

वो है दाता मुक्ति का वो सुमिरावे नाम।।

गुरु स्वामी रामानन्द दशरथ-पुत्र राम के उपासक थे। कबीर में अपार गुरुनिष्ठा थी, अतः उनके इष्टदेव भी वही सगुण राम थे, जो उनके गुरु रामानन्दजी के इष्टदेव थे, इसका प्रमाण उनका यह आत्मकथ्य है—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काको लागूँ पाय।

बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो लखाय।।

कबीर को गुरु के समान ही गोविन्द (विष्णु) भी पैरवाले दिखाई पड़ते हैं। अतः उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपासक मानना तर्कसंगत नहीं है।

कान्ता-भाव की उपासना सगुण उपासक करता है, निर्गुण उपासक नहीं। कबीर की कान्ता-भाव की उपासना का दृष्टान्त प्रस्तुत है—

हम तो तुम्हारी दासी सजना तुम हमरे भरतार।

दीन दयाल दया करि आयो, समरथ सिरजनहार।।

कै हम प्रान तजत है प्यारे कै अपना कर लेव।

दास कबीर विरह अति बाढ्यो हमको दरसन देव।।

(विनय-पीयूष : २४३)

आत्माराम तो सबके भीतर ही है, अतः उसे दर्शन के लिए बुलाने की जरूरत नहीं है। ऊपर के पद में कबीर दर्शन के लिए अपने इष्टदेव को बुला रहे हैं, अतः उनके इष्टदेव सगुण हैं, निर्गुण नहीं।

ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार कान्ताभाव की उपासिका मीरा बाई शरीर-सहित परलोक गईं और पहचान के लिए मात्र साड़ी का एक छोटा-सा छोर रह गया, उसी प्रकार कबीर भी सशरीर परलोक गए और पहचान के लिए मात्र फूलों का ढेर रह गया। शास्त्र कहता है कि जिसके अन्तःकरण में जो भावना रहती है, वही मृत्यु के समय प्रकट होती है। अतः मृत्यु के समय के कथन से किसी की आन्तरिक भावना का पता चलता है। कबीर ने मृत्यु के समय कहा—

राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।

जो सुख साधु संग में, सो बैकुण्ठ न होय।।

कबीर मृत्यु के समय इसलिए रो रहे थे कि वैकुण्ठ में उन्हें साधुओं का सत्संग नहीं होगा। यह उक्ति उनके सत्संग-प्रेम का परिचायक है। निर्गुण ब्रह्म निराकार और सर्वव्यापक होता है, अतः उसका कोई लोक नहीं होता। सगुण ब्रह्म के नाम, रूप, लीला और धाम (लोक) होते हैं। अतः कबीर के वैकुण्ठ लोक जाने सम्बन्धी कथन उन्हें सगुण रामोपासक सिद्ध करता है।

डी०- ६६ (पी० सी० कालोनी),

लोहियानगर,

पटना- ८०००२०

✧

हों बलि कब देखोंगी तोहि ।

अहनिसि आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापी मोहि ।

नैन हमारे तुम्हरो चाहै, रती न मानै हारि ।

विरह अगिनि तन बहुत जरावै, ऐसी लेहु विचारि ।

सुनहु हमारी दादि गुसाई, अब जनि करहु अधीर ।

तुम धीरज में आतुर स्वामी, काँचे भाँड नीर ।

बहुत दिनन के बिछुरे भाधौ, मन नहिं बाँधे धीर ।

दे छता तुम मिलहु कृपा करि आरतिवन्त कबीर ।।

प्राक्-स्वतन्त्रतायुगीन हिन्दी नाटकों की राष्ट्रीय चेतना

डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा

मानवीय कार्य-व्यापारों की सशक्त अभिव्यक्ति नाटकों में होती है। नाटक के पात्र विभिन्न हाव-भावों का अभिनय कर पाठक या दर्शक के हृदय पर अमिट छाप छोड़ते हैं। सफल नाटककारों में समय की पकड़ बड़ी जबरदस्त होती है, इसलिए स्वतन्त्रता के पूर्व अधिकांश हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीय चेतना का ओजस्वी स्वर अधिक मुखरित हुआ है।

लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस आदि राष्ट्रप्रेमी महापुरुष उस समय भारत की परतन्त्रता की बेड़ी काटने में सक्रिय थे। इन गरम दल और नरम दल के नेताओं का एकमात्र उद्देश्य था कि किसी भी कीमत पर देश को आजाद करें, इसलिए वे देशवासियों में देशप्रेम की भावना भरकर उन्हें आन्दोलन के लिए प्रेरित करते थे। फलस्वरूप, भारत के सच्चे सपूतों में देशप्रेम की भावना हिलोर लेने लगी।

हिन्दी के प्रमुख नाटककारों ने भी अपने नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण का मन्त्र फूँकना शुरू किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बाबू राधाकृष्ण दास, जयशंकर प्रसाद तथा हरिकृष्ण प्रेमी उस युग के ऐसे सशक्त नाटककार थे, जिन्होंने राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत कई नाटकों की रचना की।

सन् १८५७ में भारतेन्दुजी अल्पवय के थे, जब सिपाही विद्रोह छिड़ा था, पर उसी समय से उनका संवेदनशील हृदय देश की दुर्दशा देखकर मर्माहत होने लगा था। वे बड़े ही कुशाग्र बुद्धि के थे, इसलिए अपने नाटकों में राष्ट्रीय चेतना जागृत कर देशद्रोहियों पर कशाघात करने लगे। 'भारत-दुर्दशा' नामक नाटक की

प्रतीकात्मक शैली में उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुर्दशा पर प्रकाश डाला है—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।

हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

'अन्धेर नगरी' में अँगरेज सरकार की कुटनीति, देश की दुर्दशा और कर्मचारी वर्ग में फैले भ्रष्टाचार की खुली भर्त्सना की गई है। 'नीलदेवी' नाटक में भी देशप्रेम की अनुगूँज है—

कहाँ करुणानिधि केसव सोये।

जागत नेकु न जदपि बहु विधि भारतवासी रोये।

हाय सुनत नहीं निटुर भये क्यों परम दयाल कटाई।

सब विधि बूडत लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई।।

भारतेन्दुजी ने समसामयिक नाटककारों को भी देशोन्नति तथा जातीय उत्थान की प्रेरणा दी।

इसी तरह बाबू राधाकृष्ण दासजी ने 'महारानी पद्मावती' एवं 'महाराणा प्रताप' नाटक में राष्ट्रीय

सहित की सभी विधाओं में नाटक क्षेत्र के समान राष्ट्रीय प्रकाश के द्वारा नाटककार के विचारों का संप्रसारण करने के कारण प्रेरित माना गया है। इस उद्देश्यकाव्य के माध्यम से जन-जन तक राष्ट्रीय चेतना का स्वर पहुँचानेवाले नाटककारों की भी भूमिका भारतीय स्वतन्त्रता संघाम में नगण्य नहीं कही जा सकती। भारत का स्वतन्त्र, भारतीयता एवं स्वतन्त्रता का अन्तर्गत जगानेवाले परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़े किन्तु अनुसृत विचारवाले नाटककारों की शत-शत सम्पत्ति।

—सं०

चेतना की नींव मजबूत करने का प्रयास किया है। स्वदेश-रक्षा और स्वाधीनता का जो स्वर 'महाराणा प्रताप' नाटक में फूटा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पृथ्वीराज का पत्र प्राप्त करते ही महाराणा में स्वाभिमान का भाव एवं देशप्रेम की प्रचण्ड लहर उमड़ने लगती है—

पराधीन है कौन चहँ जीवौ जग माहीं।
को पहिरि दासत्व-शृंखला निज पग माहीं।।
एक दिन की दासता अहै शत कोटि नरक सम।
पल भर को स्वाधीन बनौ स्वर्गहु ते उत्तम।।

अर्थात् पराधीन होकर किस जीव को सुख की प्राप्ति हो सकती है? एक दिन की दासता सैकड़ों करोड़ों या अरबों नरक के समान है और पलभर की स्वाधीनता स्वर्ग के सुख से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दिन की पराधीनता के दुःख और एक पल की स्वाधीनता के सुख के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि लेखक अपनी भावना से देशवासियों को स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख होने के लिए प्रेरित कर रहा है।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद के अभ्युदय से राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण विकास हुआ। उस समय भारत की दीन-हीन जनता अँगरेजों के गुलाम बनकर उनके तलवे सहला रही थी। अँगरेजों के बहकावे में आकर भारतीय ही एक-दूसरे का शोषण कर रहे थे। भारतीय संस्कृति के पुजारी प्रसादजी की आत्मा को देश की इस दुर्दशा ने झकझोर दिया। वे परोक्ष रूप से भारतीय वीरों को जगाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इतिहास के उन अंशों को प्रकाश में लाया, जो राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत थे।

यद्यपि 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक का प्रेरणास्रोत सन् १६२६ ई० में होनेवाला साम्प्रदायिक दंगा है, तथापि प्रसादजी ने इसमें दो विरोधी जातियों (आर्यों और नागों) का संघर्ष दिखाया है। वे अपने देश और धर्म को सर्वोच्च मानते थे, इसलिए अपने नाटकों में राष्ट्र की रक्षा और आत्मसम्मान पर बराबर बल देते रहे। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी आदि नाटक इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। वे अहिंसा या हिंसा किसी मार्ग को अपनाकर देश की स्वतन्त्रता चाहते थे।

प्रसादजी 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीयता का उद्घोष चाणक्य के माध्यम से कराते हैं— "तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मन का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेश-विजेता से पद-दलित होंगे?"

आज भी क्षेत्रीयता का विष भारत में फैला है। अतः प्रसादजी की यह उक्ति आज के सन्दर्भ में कितनी सार्थक और प्रासंगिक है! प्रसादजी ने अपने नाटकों की संवाद-योजना में राष्ट्रीय चेतना का ऐसा संचार कर दिया है, जिससे भारतीयों की आत्मा शौर्य से भर उठती है। भारत की पवित्र और आदर्शभूमि का उल्लेख चन्द्रगुप्त के सामने कार्नेलिया इस प्रकार करती है— "यहाँ के श्यामल-कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक-बालिकाएँ बाल्यकाल की सुनी कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि-भारतभूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं! अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।"

सशक्त, ओजपूर्ण संवाद-योजना के अतिरिक्त प्रसादजी की गीतयोजना में भी राष्ट्रप्रेम की पताका लहरा उठी है। राष्ट्रीय चेतना की धारा अलका के इस गीत में बह रही है—

हिमाद्रि-तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती-
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती-



अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बड़े चलो, बढ़ चलो।

इतना ही नहीं, प्रसादजी ने विदेशियों के मुँह से भी भारतभूमि का गुणगान करवाया है। कार्नेलिया भारतवर्ष को दग्ध और अज्ञात विश्व का एकमात्र अवलम्ब मानकर इस देश को मधुमय कहती है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।

प्रस्तुत गीत में भारत का मनमोहक सौन्दर्य ही नहीं, इसके द्वारा ज्ञान का प्रकाश और असीम सहृदयता का भी संकेत मिलता है।

‘स्कन्दगुप्त’ नाटक का एक पात्र मातृगुप्त भारत की महिमा इस प्रकार व्यक्त करता है—

किसी का हमने छीना नहीं,

प्रकृति का रहा पालना यही।

हमारी जन्मभूमि थी यही,

कहीं से हम आए थे नहीं।।

इस प्रकार प्रसादजी के नाटक ‘स्कन्दगुप्त’ में पारस्परिक कलह से जर्जर भारत का चित्रण है, और ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में राष्ट्रीय चेतना का साकार स्वरूप देखने को मिलता है। उनके अन्य नाटकों में भी राष्ट्रीय चेतना के अनेक जीवन्त चित्र मिलते हैं।

राष्ट्रीय चेतना के क्षेत्र में नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रसादजी ने देश की दशा सुधारने के लिए स्वर्णिम अतीत से प्रेरणा ली है और प्रेमीजी ने मुसलिम, राजपूत और मराठों के इतिहास को अपने नाटक का वर्ण्य विषय बनाया है। ‘रक्षाबन्धन’, ‘आहुति’, ‘स्वप्न-भंग’, ‘शिव-साधना’ इनके प्रमुख तथा राष्ट्रीय चेतना को उजागर करनेवाले नाटक हैं।

प्रथम तीन नाटकों में हिन्दू-मुसलिम एकता की भावना पर बल दिया गया है और ‘शिव-साधना’ में राष्ट्रप्रेम की भावना का प्रदर्शन किया है। प्रेमीजी समसामयिक आन्दोलनों और जनजीवन में साम्प्रदायिक भावनाओं से बड़े प्रभावित हुए थे। इसलिए हिन्दू-मुसलिम एकता के आधार पर उन्होंने अपने नाटकों की संरचना की।

‘रक्षाबन्धन’ नाटक में गुजरात में बादशाह बहादुरशाह के उदयपुर आक्रमण का वर्णन है। उदयपुर की साम्राज्ञी कर्मवती मुगल सम्राट् हुमायूँ को भाई मानकर राखी भेजती है और रक्षा की माँग करती है। हुमायूँ अपने वजीरों की राय के विरुद्ध भाई-बहन के पवित्र सम्बन्ध की रक्षा करता है, तब तक कर्मवती जौहर द्वारा अपना शरीर त्याग देती है। हुमायूँ के पवित्र दिल को इससे गहरा आघात पहुँचता है और वह

कहता है— “जिन राखी के धागों से बहनें भाइयों के सर खरीद लेती हैं, वे हम मुसलमानों को कहाँ नसीब है? मैं तो हिन्दुओं के कदमों में बैठकर मोहब्बत करना सीखना चाहता हूँ।”

वह महाराणा से कहता है— “चलिए महाराणा, आपको बाकायदा मेवाड़ के तख्त पर बैठाकर अपने सर से राखी का कुछ कर्ज उतार लूँ। पूरा कर्ज तो उस दिन उतरेगा, जब सारी मुसलिम कौम की बहनें हिन्दू भाइयों के हाथों में बेहिचक राखी बाँधने की हिम्मत करेंगी और सारी हिन्दू कौम की बहनें मुसलमान भाइयों के हाथों में दिल्ली-मोहब्बत के साथ अपनी पाक राखी बाँधने की मेहरबानी करेंगी, तब हमारी आँखों से पापों का मैल धुल जाएगा।”

प्रेमीजी ने अपने नाटकों के मूल में साम्प्रदायिक एकता की भावना को दृढ़ कर राष्ट्रीय चेतना की मर्यादा स्थापित की है। इन नाटककारों के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग के नाटककार खड्गबहादुर माल ने भी ‘भारत आरत’ में तथा गोपालराम ‘गहमरी’ ने ‘देश-दशा’ नाटक में राष्ट्रीय चेतना की नींव मजबूत करने का प्रयास किया है।

बाद में सेठ गोविन्ददास का ‘शेरशाह’ नाटक हिन्दू-मुसलिम एकता और मुसलमानों की राष्ट्रीयता का प्रदर्शन करता है। शेरशाह कहता है— “मैं हिन्दू, इसी मुल्क में पैदा हुआ, यहीं की आबोहवा में पला, यहीं की मिट्टी से बना और इसी मिट्टी में मिलूँगा। यहाँ से बाहर देखने के लिए मेरे पास कुछ नहीं। हिन्दुस्तान ही मेरे लिए सब-कुछ है।”

इस प्रकार स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी में अनेक ऐसे नाटककार हुए, जिन्होंने अपने नाटकों में राष्ट्र-प्रेम का अमृत घोलकर मृतप्राय स्वतन्त्रता को पुनर्जीवित किया। स्वतन्त्रता के पूर्व के वैसे नाटक, जिनमें राष्ट्रीय चेतना का पवित्र और वीरतापूर्ण संचार हुआ है, वे आज भी हिन्दी-साहित्य की अमर कृतियाँ हैं।

ज्ञान-निकेतन,

आनन्द विहार कालोनी,

गया, (बिहार)



बौधायनकृत

दुर्गार्चन - पद्धति

[चारों वेदों के साथ-साथ उनके अंग 'वेदांग' भी वैदिक साहित्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ कहीं भी वेदों के अध्ययन की बात आयी है वहाँ उनके छः अंगों के साथ वेदों के अध्ययन का उल्लेख किया गया है (महाभाष्य : पश्यशाब्दिक)। ये छः वेदांग हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष। इनमें से 'कल्प' सूत्रशैली में रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। ये चार प्रकार के हैं— श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र एवं शुल्बसूत्र। श्रौतसूत्रों में यज्ञ सम्बन्धी, धर्मसूत्र में आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी तथा गृह्यसूत्र में सामाजिक जीवन सम्बन्धी विवरण हैं। शुल्बसूत्र में रसायन विज्ञान, रेखागणित एवं अंकगणित सम्बन्धी ऐसे विवरण हैं जिनका उपयोग यज्ञ की वेदी बनाने में किया जाता था। इनमें बौधायन-गृह्यसूत्र के तीन खण्ड (प्रश्न) के तीसरे अध्याय में दुर्गापूजा की विशुद्ध वैदिक पद्धति उपलब्ध है, जो एक ओर दुर्गापूजा की प्राचीनता सिद्ध करती है, तो दूसरी ओर इस पूजा की सात्त्विक विधि का प्रतिपादन करती है। यह विधि प्रामाणिक होने के साथ-साथ कर्मकाण्ड की जटिलता से दूर होने के कारण श्रद्धालुओं द्वारा प्रतिदिन घर में भी करने योग्य है। श्रद्धालुओं के लिए यह उपहार प्रस्तुत है। - सं०]

(मूल संस्कृत)

अथातो दुर्गाकल्पं व्याख्यास्यामः—

यज्ञोपवीतं रक्तपद्मपुष्पं सम्भारानुपकल्प्य मासि मासि कृत्तिकापूर्वाहने गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरस्रं स्थण्डिलं कृत्वा प्रोक्ष्य शौचेन सुव्रतस्तिष्ठन् भगवतीमावाहयेत्— 'जातवेदसे' इति 'ओमार्या रौद्रीमावाहयामि' इत्यावाह्य 'तामग्निवर्णा' इति कूर्चं दत्त्वा 'अग्ने त्वं पारय' इति यज्ञोपवीतं दत्त्वाऽथैनां स्नापयति— 'आपो हि ष्ठा मयोभुवः' इति तिसृभिः 'हिरण्यवर्णाः' इति चतसृभिः 'पवमानः' इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा 'आर्याये रौद्र्यै महाकाल्यै महायोगिन्यै सुवर्णपुष्प्यै देवसङ्कीर्त्यै महायज्ञ्यै महावैष्णव्यै, महापृथिव्यै मनोगम्यै शङ्खधारिण्यै नमः' इत्येकादशनामधेयैर्गन्धपुष्पधूपदीपैः 'अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः' इत्येतैरैर्वाचयित्वा सावित्र्या 'भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविर्निवेदयामि' इति हविर्निवेद्य शेषमेकादशनामधेयैर्हुत्वा पञ्चदुर्गा जपेद्दश, स्वस्ति

जपेत् 'जातो यदग्ने, वषट् ते विष्णो, वास्तोष्पते, एवावन्दस्व, आ नो नियुद्भि, हिरण्यवर्णाः अभयं कृणोतु, अश्वावतीः, त्वं वरुणः, बृहस्पते युवमिन्द्रश्च, स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इति जपित्वा 'शं च मे सूर्यश्च मे' इत्येतैरेकादशभिरनुवाकैश्च जपेत् सावित्र्या 'भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविरुपासयामि' इत्युद्रास्य शेषं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा संवत्सरमुपासीत।।

सर्वकामास्सिध्यन्तीत्याह भगवान् बौधायनः।

अर्थात् अब दुर्गा के विषय में व्याख्या कर रहे हैं—

यज्ञोपवीत और लाल कमल का फूल सामग्री के रूप में संकलित कर प्रतिमास कृत्तिका नक्षत्र के दिन प्रातःकाल में गाय के गोबर से गाय की लम्बाई के बराबर चौकोर वेदी का निर्माण कर उसे जल से सिक्त कर पवित्र होकर नियमों का पालन करते हुए बैठकर भगवती का आवाहन करें—

जातवेदसे सुनवामसोममरातीयतो निदहाति
वेदः। स नःपर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं
दुरितात्यग्निः॥

(ऋ० १।६६।१)

ॐ आर्या रौद्रीमावाहयामि।

इस तरह आवाहन कर,

तामग्निवर्णा तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं
कर्मफलेषु जुष्टाम्। दुर्गां देवीं शरणं प्रपद्यामहे-
ऽसुरान्नाशयिष्ये ते नमः॥

(देव्यथर्वशीर्षः :६)

इस मन्त्र से मुट्ठी भर जयन्ती अथवा दूर्वा
आसन के लिए दें।

अग्ने त्वं पारयानव्यो अस्मान्स्वस्तिभिरति-
दुर्गाणि विश्वा। पूञ्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय
तनयाय शं योः॥

(ऋ० १।१८६।२)

इस मन्त्र से यज्ञोपवीत समर्पित कर निम्न
मन्त्रों से स्नान करायें—

ॐ आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऽऊर्जे दधातन।
महेरणाय चक्षसे॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयते
ह नः। उशतीरिव मातरः॥ तस्मा ऽअरङ्गमाम वो
यस्य क्षयाय जिञ्चथ। आपो जनयथा च नः॥४॥

(अथर्व० १।६।५)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः
सविता यास्वग्निः। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता
न आपःशं स्योना भवन्तु॥१॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते
अवपश्यन् जनानाम्। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता
न आपःशं स्योना भवन्तु॥२॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे
बहुधा भवन्ति। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न
आपःशं स्योना भवन्तु॥३॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप
स्पृशत त्वचं मे। घृतश्च्युतः शुचयो याः पावकास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु॥४॥

ॐ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा
पितामहाःपुनन्तु प्रपितामहाःपवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु
मा पितामहाःपुनन्तु प्रपितामहाःपवित्रेण शतायुषा
विश्वमायुर्व्यश्नवै॥१॥

अग्नेऽआर्यैषि पवसऽआसुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥२॥

पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु
सर्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम्॥३॥

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेणदेव दीद्यत्। अग्ने
क्रत्वा क्रतूरनु॥४॥

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन
पुनातु माम्॥५॥

पवमानःसोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यःपोता स पुनातु मा॥६॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां
पुनीहि विश्वतः॥७॥

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो
वीतपृष्ठाः। तथा मदन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो
रयीणाम्॥८॥

इसके बाद गन्ध, पुष्प, धूप एवं दीप से
निम्नलिखित ग्यारह रूपों की पूजा इस प्रकार करें—

ॐ आर्यायै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ रौद्र्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ महाकाल्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ महायोगिन्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ सुवर्णापुष्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ देवसङ्कीर्त्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ महायज्ञ्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ महावैष्णव्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ महापृथिव्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः।

ॐ मनोगम्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः ।

ॐ शङ्खधारिण्यै नमः अमुष्यै नमोऽमुष्यै नमः ।

इस प्रकार अर्चना कर सावित्री मन्त्र(ॐ भूः
ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ
सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो
यो नः प्रचोदयात् ॐ ।) जपकर निम्नलिखित मन्त्र
से दुर्गा देवी को हविष् निवेदित करें—

ॐ भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविर्निवेदयामि ।

इसके बाद शेष हविष् को उपर्युक्त ग्यारह
नामों से अग्नि में समर्पित कर
दश बार पञ्चदुर्गा का जप करें। इसके बाद
स्वस्तिवाचन करे। पुनः निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ
करें—

जातो यदग्ने भुवनाव्यख्यः पशून् गोपा इर्यः
परिज्मा । वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं यूयं पात
स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ० ७।१४।१६)

वषट् ते विष्णवांस आकृणोमि तन्मे जुषस्व
शिपिविष्ट हव्यम् । वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं
पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ० ७।६६।७)

वास्तोष्पते शम्भया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया
गातुमत्या । पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात
स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ० ७।५४।३)

एवावन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्याधीरममृतस्य
गोपाम् । स नः शर्म त्रिवरुथं वि यंसत् पातं नो
द्यावापृथिवी उपस्थे ॥

(ऋ० ८।४२।२)

आ नो नियुद्धिः शतिनीभिरध्वारं
सहस्त्रिणीभिरुपयाहि यज्ञम् । वायो अस्मिन्सवने
मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ० ७।६३।५)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः
सविता यास्वग्निः । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता
न आपःशं स्योना भवन्तु ॥१॥

(अथर्व० १।६।५।१)

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोभयं सोमः
सविता नः कृणोतु । अभयं नोस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषीणां
च हविषाभयं नो अस्तु ॥१॥

(अथर्व० ६।४।५।१)

अश्वावतीर्गोतमीर्न उषासो वीरवतीः
सदमुच्छन्तु भद्राः । घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं
पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ० ७।४१।७)

त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति
मतिभिर्वसिष्ठाः । त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात
स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ० ७।१४।३)

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत
पार्थिवस्य । धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात
स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ० ७।६७।१०)

स्वस्ति न ऽइन्द्रो वृद्धश्चवाः स्वस्ति नः पूषा
विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्ताक्षर्यो ऽअरिष्टनेमिः स्वस्ति
नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(ऋ० १।८६।६)

इसके बाद सावित्री मन्त्र जप करते हुए
भगवत्यै दुर्गा देव्यै हविरुपासयामि इस मन्त्र से भगवती
को नैवेद्य समर्पित कर शेष भाग ब्राह्मणों को दान
में देकर वर्ष पर्यन्त

भगवती की उपासना करें। इससे सभी कामनाओं
की सिद्धि होती है—ऐसा बौधायन कहते हैं।

भक्तिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा

ॐ गोपालजी

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।

(गीता : ४.३६)

अर्थात् जो मनुष्य श्रद्धावान् है, ज्ञानप्राप्ति की दिशा में तत्पर है और संयतेन्द्रिय है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

भोगेच्छाओं का परित्याग कर देने से मन पूर्णतः शान्त हो जाता है और सम्पूर्ण इन्द्रियों के भोगरूप दोषों की निवृत्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में ज्ञान का उपदेश शीघ्र ही अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाता है।

यहाँ ज्ञान का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान से है। निज भाव की जानकारी ही आध्यात्मिक ज्ञान है। निज भाव को ही स्वभाव कहते हैं। स्वभाव अव्यक्त होता है। वह कर्मों से व्यक्त होता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।

(गीता : ८.३)

कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्त्व ब्रह्म है और प्रत्येक वस्तु का अपना मूल भाव (स्वभाव) अध्यात्म

कहलाता है। चर-अचर पदार्थों की उत्पत्ति करनेवाला सृष्टि-व्यापार कर्म है।

बीजों में पृथक्-पृथक् जो भाव हैं, वे सभी ईश्वर के ही भाव हैं, जिनके कारण प्रत्येक जीव का स्वभाव अलग-अलग हुआ करता है। ये भाव हैं— बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-दमन, मन का शमन, सुख-दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश,

अपयश। इन भावों को जानना ही अध्यात्म का विषय है। ये ईश्वर की ही विभूतियाँ हैं। प्रकृति के त्रिगुणात्मक

होने के कारण ये भाव भी त्रिगुणात्मक होते हैं। ये तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं, जिनके कारण स्वभाव भी सात्त्विक, राजस और तामस हुआ करता है।

अगर स्वभाव के बारे में स्पष्ट ज्ञान हो जाए कि वह किस प्रकार का है तो मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होता है।

आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिन-जिन गुणों के होने की आवश्यकता बताई गई है वे, हैं— मान-अपमान में तुल्य भाव रखना, झूठा अहंकार एवं दम्भ का न होना, अहिंसा का भाव होना।

[जैसे वृक्ष का फल बीज बनकर पुनः वृक्ष की उत्पत्ति का कारण बन जाता है उसी प्रकार ज्ञान रूपी बीज से भक्ति का पल्लवन एवं उस भक्ति के फल के रूप में ज्ञान का आधान होता है। यह चक्र निरन्तर अबाध गति से चल रहा है जिससे भक्ति और ज्ञान के बीच अद्वैत की-सी स्थिति बन जाती है। ज्ञान और भक्ति के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या यहाँ प्रस्तुत है।

—सं०]

किसी को शारीरिक या मानसिक आघात न पहुँचाना अहिंसा है। कटु वचन बोलकर किसी के हृदय को चोट पहुँचाना हिंसा की श्रेणी में आ जाता है। अतः सरलता का भाव रखना, क्षमा भाव रखना, अपने आचार्यों की आज्ञा का पालन करना, मन-वचन और कर्म की पवित्रता मन और बुद्धि की स्थिरता बनाए रखना, विपत्ति के समय धैर्य बनाए रखना जिससे मन और इन्द्रियों को धारण करने की क्षमता बरकरार रहे। साथ-ही-साथ आत्मनियन्त्रण रखना, स्वयं से स्वयं को नियन्त्रित रखना। इससे मनुष्य स्वयं का बन्धु-जैसा व्यवहार करता है।

जिसने आत्मनियन्त्रण खो दिया, वह अपने से शत्रुवत् व्यवहार करता है। अतः आत्मनियन्त्रण ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक है। इसके अलावे इन्द्रियों और उनके विषयों से आसक्त न होना, अहंकार का न होना, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग दुःखःदायी होते हैं, इस बात का सदैव खयाल रखना, पुत्र, स्त्री, गृह आदि के साथ संगदोष न रखते हुए स्वधर्मानुसार आचरण करना, चाहे इष्ट की प्राप्ति हो या अनिष्ट की प्राप्ति हो जाए हर हाल में चित्त को शान्त और सम बनाए रखना भी ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक गुण हैं। इन सब के साथ ही ईश्वर के प्रति अनन्य भाव से अव्यभिचारिणी भक्ति रखना भी ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक है।

अव्यभिचारिणी भक्ति का अर्थ है प्राणिमात्र में आत्मनिष्ठ बुद्धि रखना। सभी जीवों में एकात्म दर्शन करना। इन सभी गुणों के साथ प्रत्येक दिन ज्ञानप्राप्ति में प्रयत्नशील रहना और तत्त्वज्ञान का परिशीलन करना। यही ज्ञान है; शेष अज्ञान हैं, अविद्याएँ हैं।

ज्ञान के समान पवित्र दूसरा कुछ भी नहीं है—**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।** ज्ञान से ही विवेक की प्राप्ति होती है। विवेक की प्राप्ति होने से मनुष्य को 'यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है' ऐसा विचार उत्पन्न होता है। ज्ञानी मनुष्य की दृष्टि में

काम्य कर्म त्याज्य होता है और कर्तव्य कर्म ग्राह्य होता है। कर्तव्य कर्म में फलासक्ति का त्याग की भावना रहती है। अतः कर्तव्य कर्म के मार्ग में फलासक्ति का त्याग छिपा रहता है। कर्तव्य कर्म में अगर फलासक्ति आ जाए तो वह लोक-कल्याणार्थ और लोक-संग्रहार्थ नहीं रह पाता है। लोक-कल्याणार्थ कर्म तभी सम्भव होता है, जब बुद्धि आत्मनिष्ठ हो जाए।

अध्यात्मशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा नाम रूप से आच्छादित है, इसलिए अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से हम लोग कहा करते हैं कि जो आत्मा मुझमें है, वही प्राणियों में भी है— **“सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि”** (गीता : ६.२६)। अथवा “यह सब आत्मा ही है” इसे ही बुद्धियोग कहा जाता है। यह आत्मौपम्य बुद्धि ही है। इस बुद्धियोग को देनेवाला परमेश्वर है। **“ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते”** (गीता : १०.१०)।

गीता में ही भगवान् कृष्ण ने कहा है—

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पित-मनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता : १२.१४)

जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढ़निश्चय है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा कर्मयोगी भक्त मुझको प्यारा है।

मन और बुद्धि को ईश्वरार्पण कर देने से मनुष्य न किसी वस्तु के लिए कामना करता है और न शोक करता है; न द्वेष करता है, न किसी पदार्थ-विशेष में आसक्त होता है। इससे मनुष्य शान्त हो जाता है। वह आत्माराम बन जाता है। भौतिक मृगतृष्णा उसे भ्रमित ही नहीं कर पाती।

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र में ईश्वर के प्रति अनुराग या प्रेम को ही भक्ति कहा गया है। भक्ति भाव से अविद्या का नाश हो जाता है और हृदय में ज्ञान का

प्रकाश फैल जाता है। 'रामचरितमानस' में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है।

प्रबल अविद्या तम मिटि जाई।
हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहि जाहीं।
बसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधासम अरि हित होई।
तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
व्यापहिं मानस रोग न भारी।
जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥

(मानस : उत्तरकाण्ड)

भक्तप्रवर तुलसीदास ने विभीषण को ज्ञानी और भक्त दोनों की संज्ञा देते हुए कहा है—

नाम विभीषण जेही जग जाना।

विष्णु भगत विज्ञान निधाना॥

न कोई कोरा ज्ञानी होता है और न कोई कोरा भक्त। भक्त में ज्ञानी और ज्ञानी में भक्त छिपा रहता है। ज्ञान का दीपक सदैव जलता रहे और वह शरीर-रूपी क्षेत्र को सदैव प्रकाशित करता रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियों के सभी द्वार पर श्रद्धा और भक्तिरूपी किवाड़ लगाकर बन्द कर दिया जाए। इससे ज्ञान स्थिर रहता है।

अगर इन्द्रियों के द्वार पर भक्तिरूपी किवाड़ न रहे तो विषयों की हवा के झोंके द्वार से प्रवेश कर हृदयगुहा के ज्ञान के दीपक को बुझा देंगे। कबीरदासजी ने अपनी साखी में कहा है—

मन स्वारथी आप रस, विषय लहर फहराय।

मन के चलाये तन चले, जाते सर बस जाए।।

(साखी : २३६)

ए-४, ऑफिसर्स फ्लैट,
न्यू पुनाईचक, पटना।



पाठकीय प्रतिक्रिया

धर्मायण का ६४-६५, ६६ अंक महावीर मन्दिर में ही लेकर पढ़ा। दोनों सम्पादकीय में आचरण एवं श्रद्धा की महत्ता पर प्रकाश, श्रवणकुमार, भरत भारद्वाज आख्यान स्वामी रामानन्द, एवं वल्लभ का पुष्टि मार्ग, बुद्ध के सन्देश एवं विभिन्न विषयों पर गहरे चिन्तन मनन से लिखे गये सम्मान्य विद्वानों के लेख सभी ज्ञान वर्धक एवं प्रेरणाप्रद होने से अध्ययन कर सन्तोषानुभव हुआ। वर्तमान समय में भ्रूण-पंचाशिका-जैसे काव्य अधिक उपयोगी माना जा सकता है। उसे पढ़कर लिखा—

विदुषः भवनाथस्य भ्रूणपंचाशिका कथा।

शोभते काव्यसौन्दर्यैः प्रेरणा भ्रूणरक्षिका॥२॥

धर्मायण परिवार के सभी विद्वद्वृन्द को शतशः साधुवाद देते हुए धर्मायण की वार्षिक ग्राहकता की व्यवस्था की अपेक्षा करता हूँ।

रुद्रानन्द झा

शि० से० नि० शिक्षक,

वार्ड नं०- १३, फारविसगंज

जिला- अररिया।



छठ पर्व पर विशेष

7

E उपयोगी मन्त्र E

भगवान् सूर्य हमारे प्रत्यक्ष देव हैं। इनकी महिमा वैदिक साहित्य से लेकर आजतक अखण्डित रूप में गाई जाती रही है। ये आरोग्य प्रदान करनेवाले तथा घोर संकट की स्थिति में ऊर्जा प्रदान करनेवाले देवता माने जाते रहे हैं। सूर्य की उपासना का प्रसिद्ध पर्व प्रतिहार-षष्ठी, विवस्वत्-षष्ठी या छठ पर्व इस वर्ष दिनांक १८ एवं १९ नवम्बर को होने जा रहा है। इस अवसर पर ब्रतियों के लिए भगवान् भास्कर के अर्घ्यमन्त्र यहाँ संकलित हैं जिनका उल्लेख महामहोपाध्याय रुद्रधर (१४ वीं शताब्दी) ने छठ व्रत की पूजा-पद्धति में किया है।

अर्घ्य-मन्त्र :-

नमोऽस्तु सूर्याय सहस्रभानवे
 नमोऽस्तु वैश्वानर जातवेदसे।
 त्वमेव चार्घ्यं प्रतिगृह्ण गृह्ण
 देवाधिदेवाय नमो नमस्ते॥
 नमो भगवते तुभ्यं नमस्ते जातवेदसे।
 दत्तमर्घ्यं मया भानो त्वं गृहाण नमोऽस्तु ते॥
 इहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
 अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर॥
 इहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
 गृहाणार्घ्यं मया दत्तं संज्ञयासहित प्रभो॥

प्रणाम-मन्त्र :-

जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्।
 ध्वान्तादिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम्॥



f

व्रत-व्योहार

f

अक्तूबर २००४ से दिसम्बर २००४ तक	दिन	दिनांक
कष्टी श्रीगणेश-चतुर्थीव्रत	शुक्रवार	०१/१०/२००४
हात्मा गांधी एवं लाल बहादुर शास्त्री-जयन्ती	शनिवार	०२/१०/२००४
शिवसुत्रिका (जितिया)	बुधवार	०६/१०/२००४
इन्दिरा एकादशी (सबकी)	रविवार	१०/१०/२००४
शिवरात्रिव्रत	मंगलवार	१२/१०/२००४
शिवसर्जन	बुधवार	१३/१०/२००४
शिवशिवनी अमावस्या	बृहस्पतिवार	१४/१०/२००४
शिवरद नवरात्रारम्भ	शुक्रवार	१५/१०/२००४
हाष्टमी	बृहस्पतिवार	२१/१०/२००४
हानवमी	शुक्रवार	२२/१०/२००४
प्रजयादशमी	शनिवार	२३/१०/२००४
शिपांकुशा एकादशी	रविवार	२४/१०/२००४
शिवसूर्यपूजा	बुधवार	२७/१०/२००४
शिवरवा चौथ	रविवार	३१/१०/२००४
धनतेरस / धन्वन्तरि-जयन्ती / शिवरात्रि	बुधवार	१०/११/२००४
धनुमज्जयन्ती	बृहस्पतिवार	११/११/२००४
शिवतीर्थी अमावस्या / दीपावली	शुक्रवार	१२/११/२००४
शिवकूट / गोवर्धनपूजा	शनिवार	१३/११/२००४
शिवइया दूज / चित्रगुप्तपूजा	रविवार	१४/११/२००४
शिवर्यषष्ठी (छठ) व्रत	बृहस्पतिवार	१८/११/२००४
शिवक्षयनवमी	शनिवार	२०/११/२००४
शिवबोधिनी (देवोत्थान) एकादशी	सोमवार	२२/११/२००४
शिवतीर्थीपूजा	शुक्रवार	२६/११/२००४
कष्टी गणेश-चतुर्थीव्रत	मंगलवार	३०/११/२००४
शिवपन्ना एकादशी (सबकी)	बुधवार	०८/१२/२००४
शिवरात्रिव्रत	शुक्रवार	१०/१२/२००४
शिवामावस्या (प्रातः ७:२५ तक)	रविवार	१२/१२/२००४
शिवश्रीरामविवाहोत्सव (विवाहपंचमी)	बृहस्पतिवार	१६/१२/२००४
शिवशिक्षदा एकादशी / गीताजयन्ती	बुधवार	२२/१२/२००४
शिवकिसमस डे / बड़ा दिन	शनिवार	२५/१२/२००४
शिवपूजा	रविवार	२६/१२/२००४
कष्टी गणेश चतुर्थीव्रत	बृहस्पतिवार	३०/१२/२००४

वेदवाणी

[भगवान् श्रीकृष्ण ने विभूतियोग में “पवतां पवनश्चास्मि” अर्थात् पवित्र करनेवालों में मैं पवन हूँ (गीता : १०. ३१), कहा है। इससे स्पष्ट है कि वायु भगवत्स्वरूप है। यह प्राणिजगत् के लिए सबसे अधिक मूल्यवान् है। पंचतत्त्वों में भी इसका स्थान है। यह सृष्टि का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसमें दिव्य गुण होने के कारण ही देवत्व-गुण-सम्पन्न है। वायुदेव अदृश्य हैं, पर सर्वव्याप्त हैं। इस महत्ता को ऋग्वेद के ऋषि ने भी देखा-परखा है। इस अंक में ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १६८ वें सूक्त के रूप में संकलित महिमान्वित ‘वात सूक्त’ उपन्यस्त है।]

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।

दिविस्पृग् यात्वरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् । ।

पवनदेव के रथ की महिमा का शीघ्र वर्णन कर रहा हूँ। इसका घोष गिरि-गह्वरों में विविध शब्द उत्पन्न करते हुए समस्त जड़-चेतन जगत् के पदार्थों को तोड़ता हुआ चलता है। ये पवनदेव आकाश का स्पर्श करते हुए दिशाओं को रक्तिम करते हैं और धरती की धूल उड़ाकर चारों ओर बिखेरते रहते हैं।

सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा एनं गच्छन्ति समनं न योषाः ।

तामिः सयुक्सरथं देव ईयतऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा । ।

अचल-से बने वृक्ष आदि पवन के वेग से हिल जाते हैं अर्थात् पवनदेव जिधर से चलते हैं, वृक्षादि को उधर से झकझोर देते हैं। संग्राम-भूमि की तरह इनके पास भी घोड़ियाँ आ जाती हैं। उन घोड़ियों से युक्त पवनदेव एक रथ पर चढ़कर बहते हैं और इस सम्पूर्ण जगत् का स्वामी बनकर रहते हैं।

अन्तरिक्षे पथिमिरीयमानो न नि विशते कतमद्यनाहः ।

अपां सथा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्ञातः कुत आ बभूव । ।

आकाश-मार्ग से जाते हुए पवनदेव एक दिन भी विश्राम नहीं करते हैं, अर्थात् हमेशा गतिमान रहते हैं। ये जल के मित्र, प्रथम प्रादुर्भूत एवं सत्यनिष्ठ हैं। ये पहले-पहल कहाँ उत्पन्न हुए और कहाँ से आकर इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो गए, यह किसी को पता नहीं।

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।

घोष इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम । ।

पवनदेव देवताओं की आत्मा और जीवजगत् के प्राण हैं। ये स्वेच्छाचारी हैं। इनके आने पर शब्द ही सुनाई पड़ते हैं, इनका रूप दिखाई नहीं पड़ता है। ऐसे पवनदेव को हम हवि से पूजन कर रहे हैं।



अंक : ६७

आश्विन-मार्गशीर्ष (२०६१)

अक्टूबर-दिसम्बर, २००४ ई०



उद्धृत्तं समनसः सखायः



गंगा के तटीय क्षेत्रों में लीवर, पैंक्रियाज और गॉल-ब्लाडर कैंसर की बढ़ोत्तरी पर सेमिनार आयोजित।

गंगा नदी के तटीय क्षेत्रों में लीवर और गॉल ब्लाडर के कैंसर के रोगियों की बढ़ोत्तरी से सारा देश चिन्तित है। 'अन्तर्राष्ट्रीय लीवर, पैंक्रियाज एवं गॉल ब्लाडर एसोसियेशन' (INTERNATIONAL HEPATO PANCREATO BILIARY ASSOCIATION) भी इनके कारणों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। एसोसियेशन ने भारत में लीवर, पैंक्रियाज और गॉल ब्लाडर के कैंसर की बढ़ती संख्या को देखते हुए अपना पहला सम्मेलन मद्रास में आयोजित किया था किन्तु, जब इस बात का पता चला कि इस प्रकार के कैंसर सर्वाधिक तौर पर गंगा के तटीय क्षेत्रों में हो रहे हैं तो उसकी चिन्ता और गहरी हो गयी। इधर, फुलवारीशरीफ, पटना में स्थित महावीर कैंसर संस्थान भी रोज-रोज लीवर पैंक्रियाज और गॉल ब्लाडर के कैंसर रोगियों की बढ़ती संख्या से परेशान था। महावीर कैंसर संस्थान ने इस विषय पर विचार-विमर्श करने के उद्देश्य से देश-विदेश के प्रख्यात कैंसर रोग विशेषज्ञों का सम्मेलन बुलाने का निर्णय लिया। इसी उद्देश्य से महावीर कैंसर संस्थान के निदेशक डा० जे० के० सिंह ने INTERNATIONAL HEPATO PANCREATO BILIARY ASSOCIATION (I.H.P.B.A.) को पटना में आमन्त्रित किया। I.H.P.B.A. ने डा० सिंह के आमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार किया क्योंकि वो भी इस विषय को लेकर समान रूप से चिन्तित थे।

04-05 सितम्बर, 04 को पटना में आयोजित पूर्वी क्षेत्र के सम्मेलन का उद्घाटन विहार के राज्यपाल न्यायमूर्ति डा० एम० रामा जोइस ने किया। सम्मेलन को दीप-प्रज्वलित कर सम्बोधित करते हुए राज्यपाल ने कहा कि गंगा के तटीय क्षेत्रों में लीवर, पैंक्रियाज और गॉल-ब्लाडर के कैंसर सर्वाधिक क्यों हो रहे हैं इसके कारणों का पता लगाने की जिम्मेदारी कैंसर विशेषज्ञों के साथ-साथ सरकार की भी है। उन्होंने कहा कि भारत में प्रतिवर्ष 7-8 लाख कैंसर के नये रोगी आ रहे हैं। इनमें लीवर, पैंक्रियाज और गॉल-ब्लाडर के कैंसर के चिकित्सकों को एक चुनौती के रूप में लेना चाहिए। उन्होंने महावीर कैंसर संस्थान को इस क्षेत्र में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने के लिए साधुवाद दिया।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

(पिछले पृष्ठ का शेष भाग)

सम्मेलन में स्वागत भाषण करते हुए महावीर कैंसर संस्थान के निदेशक डा० जे० के० सिंह ने कहा कि उनके संस्थान के आंकड़े बताते हैं कि विगत 5 वर्षों में 36000 कैंसर के नये रोगियों में सिर्फ गॉल-ब्लाडर और लीवर के 18 प्रतिशत कैंसर के रोगी पाये गये हैं। उन्होंने कहा कि गंगा नदी के तटीय क्षेत्रों में इस प्रकार के कैंसर रोगियों की संख्या में लगातार वृद्धि एक राष्ट्रीय शोध का विषय है। डा० सिंह ने कहा कि शोध इस विषय पर भी होना चाहिए कि गंगा के तटीय क्षेत्रों के आम-आवाम के खान-पान, रहन-सहन, आचार-व्यवहार और चिन्तन धारा इस रोग के कारणों के लिए कितना जिम्मेदार है? डा० सिंह जो सम्मेलन के संगठन समिति के अध्यक्ष भी थे ने बताया कि महावीर कैंसर संस्थान में जितने भी रोगी आये हैं उनमें से 4 प्रतिशत पैक्रियाज के कैंसर के रोगी पाये गये हैं। उन्होंने कहा कि आज कैंसर के इलाज की तीन विधियों यथा – सर्जरी, कीमोथिरेपी और रेडियोथिरेपी के आवश्यकतानुसार संयुक्त प्रयोग से किया जा सकता है। किन्तु, दुःखद स्थिति यह है कि कैंसर के रोगी अन्तिम अवस्था में इलाज के लिए अस्पताल में आते हैं। कैंसर के क्षेत्र में नित्य नये शोध और चिकित्सकीय पद्धति के आविष्कार से यह सिद्ध हो गया है कि यदि, कैंसर के रोगी रोग की प्रारम्भिक अवस्था में इलाज के लिए अस्पताल में आये तो उनका शत-प्रतिशत इलाज किया जा सकता है।

अपने लम्बे अनुभव के आधार पर डा० जे० के० सिंह ने कहा कि अनेक ऐसे लोग हैं, जो आरम्भिक अवस्था में यहाँ तक की रोग की दूसरी अवस्था में आये और अपना इलाज कराकर आज सुखमय और स्वस्थ जीवन जी रहे हैं।

सम्मेलन में देश के अनेक लब्ध प्रतिष्ठित कैंसर विशेषज्ञ चिकित्सकों ने भाग लिया। यथा – मुम्बई से डा० पी० जगन्नाथ और डा० विनय धीर, दिल्ली से डा० डी० सी० डोवेल, कोलकता से डा० (श्रीमती) उषा गोयका, डा० महेश गोयनका और डा० कल्याण भट्टाचार्य, लखनऊ से डा० एन० आर० दत्ता और वाराणसी से डा० वी० के० शुक्ला।

डा० विनय धीर ने कहा कि पैक्रियाज के कैंसर की पहचान आज आसान हो गया है। मात्र एक सी० टी० स्कैन से इस रोग की पहचान की जा सकती है। उन्होंने कहा कि यह रोग ज्यादातर वैसे लोगों को पाया गया है, जो अत्यधिक शराव का सेवन करते रहे हैं।

डा० पी० जगन्नाथ ने नवीन सर्जिकल तकनीक का हवाला देते हुए कहा कि आरम्भिक अवस्था में बेहतर सर्जरी के माध्यम से बेहतर परिणाम मिल सकता है। डा० एन० आर० दत्ता ने कहा कि रेडियेशन के विविध उपभोग से सर्जरी के बाद स्थिति पर कारगर ढंग से काबू पाया जा सकता है।

डा० दिनेश पेण्डारकर ने सर्जरी से पहले और बाद में कीमोथिरेपी की उपयोगिता पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि आज नयी-नयी दवाओं के उपलब्ध हो जाने से रोग पर काबू पाना आसान हो गया है। डा० पेण्डारकर ने बताया कि कुछ नयी दवाएँ भी आनेवाली हैं जिनका प्रयोग पैक्रियाज के कैंसर में चमत्कारी होने वाला है।

डा० सी० खण्डेलवाल ने आरम्भिक अवस्था में सर्जरी से होने वाले लाभ से सम्मेलन को अवगत कराया। उन्होंने कहा कि पैक्रियाज के कैंसर में भी आरम्भिक अवस्था में सर्जरी के माध्यम से रोगी को लाभ पहुँचाया जा सकता है। इस सम्मेलन में लगभग 200 चिकित्सकों ने भाग लिया।